सिद्धयोग

वर्ष-२६ : अंक- ४ : जुलाई १९

संस्थापक:
संत योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सँवाई, आगरा

प्रकाशक :
श्री देवीप्रसाद शर्मा
'दिव्य'
कृते श्री सिद्धगुफा
प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक
श्री 'दिव्य'

जुलाई
1993

इस अंक में पढ़िए

लेख	लेखक	पृष्ठ
★ तेषां शान्ति शाश्वती नेतरेषाम् (प्रार्थना)		1
★ योगी बालकृष्ण दास बैरागी (विशेष लेख)	—योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	2
★ नहिं ऐसो जनमु बारम्बार (सम्पादकीय)		5
★ रमता जोगी बहता पानी	—योगी रमताराम की डायरी से	8
★ बाल-मक्खन	—श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	10
★ योग-सिद्धान्त	(हठयोग प्रदीपिका से)	16
★ नम्रता और भक्ति	—श्री विष्णुप्रसाद व्यास	17
★ पत्र-पुष्पं-फलं-तोयम्	(आचार्य शंकर कृत चर्पट पंजिका से)	22
★ मरण इष्ट है या अनिष्ट	—श्री काकासाहेब कालेलकर	25
★ जो मन योगी होइ	—श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए., बी.एड. सांख्य-योगाचार्य	30
★ गुरु किसे बनाना चाहिए ?	—श्री केशवदेव उपाध्याय	33
★ सद्गुरु की कृपा-दृष्टि	—सन्त श्री ज्ञानेश्वर महाराज	37
★ सत्यं-शिवं-सुन्दरम्	—(संकलित)	39

वार्षिक मूल्य 55 रुपया। एक अंक का मूल्य 6 रुपया
द्विवार्षिक मूल्य 100 रुपया।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २६
अङ्क ४

जुलाई
१९९३

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थात् बहुविधं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग:' ॥

तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

अर्थात्—जो समस्त नित्य चेतन आत्माओं का नित्य चेतन आत्मा है और जो स्वयं अकेले ही अनन्त जीवों के भोगों का उनके कर्मानुसार विधान करते हैं, उन अपने अंदर रहने वाले सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तम को जो ज्ञानी महापुरुष निरन्तर देखते हैं, उन्हीं को सदा स्थिर रहने वाली सनातनी परम शान्ति मिलती है, दूसरों को नहीं।

—उपनिषद्

विशेष लेख :-

योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी
महाराज

योगी बालकृष्ण दास वैरागी

श्री आनन्दकन्द-प्रभुजी जब नेपाल हिमालय से लौटकर आए, तब यत्र तत्र भ्रमण करते कुम्भ के मेले पर हरिद्वार आए। उस मेले में आए हुए उनके कुटुम्बी-जनों ने उन्हें पहिचान लिया। देश में योग-प्रचार के निमित्त परिवार वालों के आग्रह को स्वीकार कर अपने घर लौटे। उसी समय से श्री प्रभुजी ने अपने विरक्त वेश को त्यागकर साधारण पण्डित के वेश में रहना प्रारम्भ किया ताकि कोई उनके वास्तविक स्वरूप एवं सामर्थ्य को पहचान न सके। उस समय श्री आनन्दकन्द योगयोगेश्वर श्री प्रभुजी महाराज अमृतसर में भाई के कटरे में निवास करते थे। उनके प्रखर तेज से आकर्षित होकर समय-समय पर कितने ही अनुभवी श्री प्रभुजी के दर्शनार्थ आया करते थे। जिन लोगों को श्री कृपानिधि जी की कृपा से दिव्य अनुभूतियां होती थीं, वे लोग श्री प्रभुजी का पूजन सदैव ईश्वरीय बुद्धि से करते थे एवं उनकी असीम शक्ति के अनुरूप ही अनेकों दिव्य स्तुतियां भी करते थे। इस प्रकार पण्डित वेश में छिपे होने पर भी अनेकों प्राणी उनकी शक्ति-सामर्थ्य से परिचित होते जाते थे, एवं उनके चरणकमलों की महिमा नगर भर में फैलती जाती थी।

संसार में दोनों प्रकार के ही मनुष्य हैं। एक ओर जहाँ श्री गुरुजी के चरणानुरागियों की संख्या बढ़ रही थी, तो दूसरी ओर कुछ मन्द बुद्धि उन कृपानिकेतन के चरणकमलों के के प्रति प्रतिस्पर्धा भी रखते थे। ऐसे ईर्ष्यालु लोगों के लिए उनका बढ़ता हुआ वैभव असह्य था। उन लोगों के विचार थे—यह सब इस ब्राह्मण का पाखण्ड है, दम्भवाणी है। हममें और इसमें अन्तर ही क्या है? जैसे हम साधारण गृहस्थ मनुष्य हैं वैसे ही यह भी गृहस्थ मनुष्य है। वे अज्ञानी उनके विशुद्ध आत्म-प्रकाश को न जानकर केवल आकृति,मात्र से साधारण व्यक्ति ही समझते थे। वे सोचने लगे यदि कोई करनी वाला साधु मिल जाय तो इनके इस सब प्रपंच का निराकरण करायें। जिस प्राणी के अन्दर जिस प्रकार की तीव्र भावनायें बन जाती हैं, समय आने पर उसी का अवसर भी मिल जाया करता है।

अमृतसर में दुर्ग्याना नामक स्थान पर पक्के जलाशय से घिरा हुआ लक्ष्मीनारायण जी का एक विशाल मन्दिर है। श्री लक्ष्मीनारायण के मन्दिर के सामने दक्षिण भाग में एक प्राचीन भैरवजी का मन्दिर बना हुआ है, वहाँ पर भैरवजी

योगी बालकृष्णदास वैरागी की यौगिक साधना के विवरण के साथ ही पढ़िये इस लेख में श्री गुरुदेवजी की तप-साधना के उनके अपने प्रेरक संस्मरण भी।
—सम्पादक

की उपासना एवं सिद्धि के लिए साधु-महात्मा आया करते हैं। दीपावली के अवसर पर तो देश-विदेश के साधुओं का पदार्पण काफी संख्या में रहता है। श्री भैरवजी के मन्दिर में अनायास ही ऐसे महात्मा आए जिन्होंने बड़े प्रयास से भैरव सिद्ध किया था। वह महात्मा लोगों से मान प्राप्त करने के लोभ में अपने सिद्ध किए भैरवजी की शक्ति से लोगों के कई प्रकार के अच्छे और बुरे कार्य करते रहते थे। संयोग से श्री प्रभुजी से ईर्ष्या रखने वाले लोगों को भी उस महात्मा के दर्शन प्राप्त हुए। अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए उपयुक्त अवसर आया जानकर उन लोगों ने अत्यन्त विनम्रता से उन महात्माजी से प्रार्थना की—यहाँ पर एक गृहस्थ ब्राह्मण ने बड़ा ढोंग रचाया हुआ है। उनके शिष्य उन्हें साक्षात् भगवान् सदाशिव, विष्णु आदि कहकर उनकी पूजा करते हैं। न जाने उन्हें कौन सी सिद्धि है, जिसकी शक्ति से अपने पास आने वाले हर व्यक्ति को अपना बना लेते हैं। उनके सम्मोहन में बंधे सभी व्यक्ति उनकी सब प्रकार से उत्तम सेवा करते हैं। आप अपनी योगशक्ति से उनसे इस प्रपंच को छिन्न-भिन्न करके जन साधारण का भला कीजिए। यदि इस पाखण्ड का निवारण हो गया तो हम सभी लोग अधिक से अधिक तन, मन, धन से आपकी सेवा करेंगे। महात्मा ने इन लोगों का दुराग्रह स्वीकार कर लिया एवं बड़े अहंकार में भरकर श्री प्रभुजी के दरबार में आ पहुँचे। महात्मा के मन में अपने भैरवजी की शक्ति का बड़ा ही अभिमान था। वह अपनी शक्ति के सामने किसी की गणना नहीं समझता था। इसी अभिमान के वशीभूत पहुँचते ही बड़े अपशब्दों का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया—अरे ब्राह्मण ! यह क्या पाखण्ड फैला रखा है ? तू स्वयं को ईश्वर कहकर पुजवाता है। यह पाखण्ड छोड़कर शीघ्र ही यहाँ से दूर हो जा। अन्यथा हम अपनी योग शक्ति से तुम्हें सीधा कर देंगे। श्री लीलानिकेतन उसके अज्ञान पर मन में हँसे, परन्तु ऊपर से अनजान जैसा व्यवहार करते रहे। कटु-वचनों से जरा भी क्षुब्ध हुए बिना धीर एवं संयत वाणी में बोले—अरे महात्मन्, हम तो साधारण ब्राह्मण हैं और आप बड़े महात्मा हैं। साधु तो स्वभाव से दयालु होते हैं, आपको ऐसे कटु शब्दों का प्रयोग करना शोभा नहीं देता। श्री प्रभुजी के इस प्रकार मान दिए जाने पर भी वह दुर्मन शान्त नहीं हुआ, न ही वह उनके इन भाव-गम्भीर शब्दों का आशय ही समझा। वह पूर्ववत् कुछ-कुछ कहता रहा, परन्तु श्री प्रभुजी शान्त ही रहे। सर्वान्तर्यामी श्री प्रभुजी की अभिलाषा उन महात्मा का अपमान करने की नहीं थी। वह जानते थे कि वह थोड़ी देर तक बकवास करके स्वयं ही शान्त हो जाएगा, और उसके भैरवजी की शक्ति भी यहाँ व्यर्थ ही रहेगी। अतः साधु के इस प्रकार बड़बड़ाने का परिणाम ही क्या हो सकता है ? अन्ततः उसे निराश लौटना ही पड़ेगा।

उस समय हमारे गुरुभाई ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी भी श्री प्रभुजी के चरण कमलों के समीप ही बैठे थे। गुरुदेव की भक्ति से ओत-प्रोत उनका हृदय अधिक न सह सका और आवेश में भरकर श्री करुणानिधान के आन्तरिक भावों का विचार किए बिना ही वह ताड़ना के स्वर में उस महात्मा से बोले—अरे नीच महात्मन् ! मैं तुम्हें और तुम्हें यहाँ भेजने वालों को खूब जानता हूँ। उन करुणार्णव त्रिलोक-पावन की दिव्य शक्ति

को तुम क्या समझ सकते हो? क्या देख सकते हो? तुम्हारे जैसों के ऐसे भाग्य कहाँ कि इनके दिव्य स्वरूप के दर्शन प्राप्त कर फिर सम्मुख बैठी एक आठ वर्ष की बालिका की ओर संकेत करते हुए ब्रह्मचारी जी ने कहा—अरे, तू उन सर्वशक्तिमान् की शक्ति को क्या देखेगा? यह बालिका ही तुझे सब कुछ दिखा देगी। आँख खोल कर देख—तेरे सामने यह कौन बैठी है? ब्रह्मचारी जी के ऐसा कहने के बाद ज्योंही उस महात्मा ने आँख उठाकर देखा तो बड़े आश्चर्य में पड़ गया। अब सम्मुख बालिका नहीं अपितु साक्षात् अष्टभुजी महामाया भगवती दुर्गा एक दिव्य सिंहासन पर बैठी दिखाई दी। तीव्र तप उपासना के बाद सिद्ध किया हुआ भैरव उस महात्मा का संग छोड़कर अपनी माँ दुर्गा की गोद में बैठ गया। भैरव ने भगवती से करबद्ध प्रार्थना की—माँ, क्या आज्ञा है? क्या सेवा करूँ? भगवती ने प्रसन्न होकर आज्ञा दी—बेटा भैरव, इस दुर्मन महात्मा को तीव्र ताड़ना देकर यहाँ से भगा दो। इसने नित्य-चेतन परब्रह्म का अपमान करने का प्रयत्न किया है, यह इसकी परम दुर्मति है। माँ भगवती दुर्गा का आदेश पाते ही भैरव ने उस महात्मा का त्रिशूल उठा कर उसे पीटना प्रारम्भ किया। ताड़ना से भयाकुल होकर महात्मा ने श्री प्रभुजी की ओर रक्षा के अभिप्राय से देखा तो उनका सदाशिव स्वरूप दिखाई दिया। यह अलौकिक दृश्य देखकर उसे बोध हुआ। और उस अगाध कृपासागर के चरण कमलों में विनम्र करबद्ध प्रार्थना करने लगा—हे प्रभु जी, आप के इस योगैश्वर्य को नहीं जानता था। अतः अज्ञान में कहे गये कटु शब्दों के लिए बारम्बार क्षमाप्रार्थी हूँ। कृपा करके मेरी रक्षा कीजिए। हे दयानिधे, भैरवजी की कृपा से ही मेरा संसार में मान है। मेरे सारे काम बन रहे हैं अतः भैरवजी को लौटाने की कृपा करें।

अकारण दयालु श्री प्रभुजी उसकी करुण पुकार से द्रवित हो गए। उसका भैरव लौटा दिया और महात्मा जी को एकदम अमृतसर छोड़कर चले जाने की आज्ञा दी। महात्मा जी श्री प्रभुजी का आदेश शिरोधार्य कर तत्काल अमृतसर से कहीं प्रस्थान कर गये उनको बहकाकर लाने वाला दुर्जन समुदाय भी निराश होकर लौट गया। परन्तु साथ ही इन लोगों के मन में भी यह धारणा बन गई श्री रामलाल जी महाराज कोई साधारण ब्राह्मण नहीं है। कोई सर्व समर्थ पूर्ण पुरुष अपने को इस वेश में छिपाए हुए हैं, जिनकी महिमा प्रत्येक व्यक्ति नहीं जान सकता।

इस प्रसंग में ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्द जी ने जो कार्य किया था, वह श्री प्रभु जी को प्रिय नहीं था। उस महात्मा के चले जाने के बाद श्री प्रभुजी ने ब्रह्मचारी जी को आज्ञा दी—तुमने हमारे सामने हमारी इच्छा के विरुद्ध अपनी शक्ति का परिचय दिया है। अतः तुम हमारे पास से चले जाओ। श्री प्रभुजी का यह कठोर आदेश सुनकर श्री ब्रह्मचारी जी ने विह्वल होकर उन कृपामय के चरण कमलों में बारम्बार विनयपूर्वक प्रार्थना की—प्रभो आप सर्व समर्थ हैं। आप अपने चरण कमलों से छुड़ाकर मुझे कहाँ भेज रहे हैं? आपके चरण कमलों के अतिरिक्त मेरे लिए और कौन सा स्थान है? दीन बन्धु जी कृपा करके बताइये कि मैं कहाँ चला जाऊँ? ब्रह्मचारी जी के करुणापूर्ण वचनों को सुनकर दयासागर जी को दया आ गई। बोले बेटा, चल अब मेरे मुख से वचन निकल गया है। एक बार तुम्हें जाना ही है परन्तु शीघ्र ही लौटकर आजाओगे। तुम मौन होकर कभी भी चले जाना। जो भी प्रथम व्यक्ति तुम्हें बुलाएगा और भोजन करायेगा—तुम उसी के साथ यहाँ वापिस आ जाना। वह व्यक्ति हमारा भक्त होगा और उसका वहाँ से सब प्रकार से भला होगा। ☐

(क्रमशः)

सम्पादकीय :-

'नहिं ऐसौ जनमु बारम्बार' !

'नहिं ऐसौ जनमु बारम्बार' यह एक जनश्रुति है। पढ़ा हुआ आदमी हो या अनपढ़ यदि उसमें कुछ भी विवेकशीलता है तो यह जनश्रुति, जिसमें मानव जीवन का सार तत्व समाया हुआ है, धर्म शास्त्रों का पूरा-पूरा निचोड़ जिसमें निहित है उसे चिन्तन की इस धारा में डूब जाने का अवसर प्रायः दे देती है कि मानव योनि जैसी योनि उसे अनायास सहज ही में नहीं मिल पाती बल्कि मिल पाती है उसे उसके संचित शुभ कर्मों के फलस्वरूप ही। 84 लाख योनियों में यह जीव अपना परिभ्रमण करता है केवल अपने दुष्कर्मों का फल भोगने के लिए और जब दुष्कर्मों का उसका फल-भोग समाप्त हो जाता है और शुभकर्मों का कोई फलभोग उभर कर आगे आ जाता है तब उसे यह देव-दुर्लभ मनुष्य योनि प्राप्त हो जाती है। चूंकि यह मानव योनि शुभ कर्मों के फलस्वरूप ही प्राप्त होती है इसलिए इसे उपनिषदों में 'सुकृत लोक' कहकर भी पुकारा गया है। यह मानव योनि ही ऐसी योनि होती है जिसमें जीव को अपने बुद्धि-विवेक और अपने पुरुषार्थ तथा ईश्वरीय और सद्गुरुओं के दिये हुए सद्ज्ञान के आधार पर पिछले जन्म में किये गये अशुभ कर्मों का फल भोगते हुए भी इस अपने वर्तमान जीवन को सुखमय और ऐश्वर्यपूर्ण बनाने का प्रयत्न भी कर सकता है। ऐसा विवेक और पुरुषार्थ कर पाना मनुष्य योनि के सिवाय अन्य किसी दूसरी योनि में सम्भव नहीं हो पाता। इसीलिए मनुष्येतर सभी योनियाँ मूढ़ योनि या भोग योनियाँ कहलाती हैं। जबकि मनुष्य योनि 'उभय योनि' कहलाती है। इस योनि को पाकर जीवात्मा अपने पूर्व जन्म में किये गये कर्मों का सुख-दुख रूप फलों का भोग भी भोगता जाता है तथा अपने को प्राप्त ज्ञान का आधार लेकर नये सत्कर्मों का बीज भी बोता जाता है, ताकि आगे होने वाला जन्म उसका और भी अधिक सुखकर एवं श्रेयस्कर बन सके। वह इसी योनि में शास्त्र और सद्गुरुओं के बोध का महत्व समझते हुए अपने को मनुष्य से ऊपर उठकर 'देवत्व की संज्ञा प्राप्त कर सकता है। इतना ही

क्यों ? यदि वह प्रयासपूर्वक सतत् साधना करता रहे तो अपने वर्तमान जीवन में ही वह उस स्थिति को पा लेने में समर्थ हो जाता है जिसे पाकर फिर और कुछ उसे पा लेना शेष नहीं रहता। योगिराज भगवान श्रीकृष्ण के शब्दों में यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमम्—अपने उस धाम में पहुँच जाता है जो उसका अपना धाम होता है यहाँ से फिर उसे जन्म-मरण में कुच्चक्र में पड़ना नहीं पड़ता। इस चक्र में पड़नाही तो उसके लिए घोर नारकीय यातनाओं का कारण बन जाता है। यही उसका कैवल्य धाम या मोक्ष प्राप्ति की स्थिति होती है। समुद्र में मिलकर जैसे नदियाँ समुद्र रूप होकर अपना अस्तित्व खोकर समुद्र ही हो जाती हैं ठीक यही दशा हो जाती है जीवात्मा की, जब वह साधना करते-करते अपना स्वयं का अस्तित्व खोकर अपने को ब्रह्मार्पण ही कर देना अपना परम लक्ष्य बना लेता है।

साधक का जब यह लक्ष्य उसके मन-वाणी और कर्म का विषय बन जाता है तब उसका दृष्टिकोण व्यापक यानी भूमा बन जाता है। वह इस स्थिति में पहुँचकर आनन्द-विभोर होकर नाचने लगता है और गा-गा कर दूसरों को भी बताने लगता है—'जित देखौं तित श्याममयी है।' कहीं कोई रञ्चमात्र भी उसे ऐसा स्थान नहीं मिलता जहाँ उसे परमप्रिय-प्रीतम का अभाव दीखता हो। 'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है' यह गान बरबस उसके अधरों से मुखरित होने लगता है। इसी को कहते हैं सच्चा अद्वैत। सिवाय उस परब्रह्म के अन्य कोई और है ही नहीं, जब यह प्रतीति जीव के मन में बैठ जाती है तब ही सच्चे अद्वैत-वाद का उदय साधक की मनोभूमि में हो जाता है। इसी अद्वैत का आनन्द पाया था भक्त मीरा ने। तभी तो उसे एक प्याले में दिया गया कालकूट बदल गया था अमृत के रूप में। ब्रज के हर गली कूँचे में अपनी ससुराल और पीहर में सर्वत्र ही उसे अपने प्रियतम गिरधर ही दृष्टिगोचर होते रहते थे। अपनी इस प्रतीति के बल पर ही वह सबसे बेधड़क निर्भय होकर कह दिया करती थी 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा ना कोई।' इसीको कहते हैं अव्यभिचारणी भक्ति और यही कहलाता है वह अद्वैत ज्ञान जिसे जानकर फिर और कुछ जानना शेष नहीं रहता और जिसे पाकर न और कुछ पाना शेष रह जाता है।

लेकिन भूलिए नहीं इस तथ्य को कि यह सम्भव हो पाता है इसी मानव योनि को पाकर। अन्य मूढ़ योनियों में से किसी में भी भोग भोगने के अलावा ब्रह्मसत्ता से एकाकार हो जाने के वे साधन उपलब्ध ही नहीं हो पाते जिन्हें माध्यम बनाकर मनुष्य अपने को सद्मार्ग पर ला सके। यह सब प्रभु कृपा से सुलभ हो पाते

है मानव योनि में ही। इसीलिए 'नहि ऐसी जनमु बारम्बार' कहकर मानव देह का महत्व बताते हुए यह चेतावनी दी गई है कि समय रहते जीवन के एक एक क्षण का सदुपयोग करने में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

कुलार्णव ग्रन्थ में भी भगवती पार्वती के यह पूछने पर कि देवाधिदेव! बतलाइए न, इस संसार में मनुष्य पीड़ाओं और दुःखों से क्यों परेशान रहता है? क्यों वह बार-बार जन्म लेकर मरण का दुःख पाता रहता है।'

भगवान शंकर ने उत्तर दिया था—देवि सुनो! मनुष्य प्राणी दुःखों से क्यों घिरे रहते हैं और क्यों बार-बार जन्म लेकर मरण रूपी महादुःख को प्राप्त होते हैं इसका कारण उसके अपने दुष्कर्म दोषी होते हैं कोई और नहीं, मनुष्य स्वयं ही है। और इन सबका मूलदोष यही है कि यह सब अविद्या के घोर अन्धकार में अज्ञान से घिरे होने के कारण अपने स्वरूप को भूले हुए रहते हैं। जैसे राख के ढेर से अग्नि का तेज ढका रहता है वैसे ही इनका आत्म ज्ञान अविद्या रूपी राख के ढेर से दबा रहने के फलस्वरूप यह सत्कर्मों और सद्विचारों का आचरण नहीं कर पाते। असत्कर्मों और आसुरी वृत्तियों के दास होकर यह बार-बार मूढ़ योनियों में जन्म लेकर जन्म-मरण के जाल में उलझे रहते हैं, और दुष्कर्मों का फल भोगने के लिए ही इन्हें प्रायः मूढ़योनियां ही मिलती हैं। इनका सूक्ष्म और कारण शरीर इनके साथ सदा बना रहता है यही इन्हें फलभोग के लिए बार-बार मूढ़ आसुरी योनियों में जन्म देतारहता है।

भगवान् शिव ने आगे समझाते हुए कहा था :—जन्म-मृत्यु जरा आदि व्याधियों की चिकित्सा इस मनुष्य जन्म में ही सुलभ है अन्यत्र नहीं। इसलिए :—

यावत्तिष्ठति देहोऽयं तावत्तत्वं समभ्यसेत्।
संदीप्ते भवने को वा कूपं खनति दुर्मति॥

अर्थात् जब तक यह मनुष्य शरीर विद्यमान है तभी तक प्रभु प्राप्ति के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि मकान में आग लग जाने पर कुआ खोदना बुद्धिमत्ता की नहीं बल्कि मूर्खता की ही बात कही जाती है। —'दिव्य'

रमता जोगी बहता पानी

रमता जोगी, बहता पानी, दोनों की उद्घोषित बानी।
'चलते से जो रुक जाता है, कीचड़ बन जाता वह पानी ॥

जिला आगरा में पिनाहट कस्बे में भदावर नरेश का बनवाया हुआ एक किला है, जो अब पुरातत्व सम्पदा के खण्डर के रूप में अपने बीते जीवन की अनगिन स्मृतियों को अपने में समेटे हुए खड़ा है। इसी ध्वस्त और अस्त-व्यस्त हुए दुर्ग के एक भू-भाग पर योगी रमताराम का प्रचार-शिविर लगा हुआ था। आध्यात्मिक और धार्मिक प्रवचन सुनने की अभिलाषा रखने वाले कुछ युवकों ने योगी जी की अनुमति प्राप्त करके वहाँ उनके प्रवचन की व्यवस्था की थी।

जिनसे हमने आग्रह किया वे सब एकमत होकर हमारे साथ पिनाहट में चलने को तैयार हो गये। जहाँ चाह होती है वहाँ राह भी अपने आप निकल ही आती है। सवारी का प्रबन्ध हो गया और हम सब उपर्युक्त प्रचार स्थल पर पहुँच गये। पहुँचते ही हमने अपना स्थान ग्रहण कर लिया। योगीजी अपने आसन पर विराजमान थे। वे अपना प्रवचन प्रारम्भ करना ही चाहते थे कि इसी बीच में श्रोता, समूह में से एक व्यक्ति उठकर खड़ा हुआ और बोला—गुरुवर हमने श्री कृष्ण भगवान् की गीता में पढ़ा भी बहुत है और अनेक विद्वानों के प्रवचन भी सुने हैं किन्तु गीता का निचोड़ क्या है, यह समझ में नहीं आया। यदि आप इसे समझावें और बतलावें तो हम सबका यहाँ आना और प्रवचन सुनना सफल हो सकेगा।

योगीराज ने शान्त भाव से श्रोता की जिज्ञासा को सुना और बोले तुम्हारा प्रश्न बड़ा उपयुक्त है तुम शान्त भाव से सुनो मैं तुम्हें गीता धर्म का सार तत्व यानी निचोड़ क्या है, इसी विषय को समझाने का प्रयास करूँगा। मैं आज जिस कथा से अपना प्रवचन आरम्भ करने जा रहा हूँ वही गीता प्रवक्ता भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में गीता का निचोड़ या सारतत्व है। सभी शान्त भाव से एकाग्र मन होकर अपने-अपने आसनों पर बैठे हुए योगी जी के बोलने की प्रतीक्षा करने लगे। योगी जी ने कहना शुरू किया।:—

मेरे प्यारे बालको!

'एक समय की बात है कि एक युवा साधक योग के यम नियमों को धारण करते हुए तप-साधना में लग गया था। धीरे-धीरे इस साधना में उसके जीवन के बारह वर्ष गुजर गये। इस अवधि की समाप्ति पर एक दिन जब वह अपनी साधना स्थल के समीप एक पेड़ की शीतल छाया में सो रहा था तब उस पेड़ की शाखा पर बैठे एक पक्षी ने बीट कर दी। बीट उसकी नंगी देह पर आकर गिरी, उसकी नींद टूट गई। देखा तो मालूम हुआ कि बीट से उसकी देह दूषित हो गई है। बीट कहाँ से आई? इस ऊहापोह में उसने अपनी दृष्टि पेड़ के ऊपर डाली तो उसे एक पक्षी बैठा हुआ नजर आया। उसे यह सम-

जानने में देर नहीं लगी कि इस पक्षी ने ही उसकी देह को बीट करके दूषित किया है। साधक ने पक्षी को क्रोध भरी दृष्टि से देखा और अपने मन में भरी दुर्भावना से उसके अनिष्ट का चिन्तन करने लगा, जिससे पक्षी उसकी दुर्भावनाओं का शिकार होकर नीचे गिर पड़ा और क्षण भर में नीचे जलती राख के ढेर में झुलसकर मर गया। साधक ने समझ लिया कि पक्षी का तत्क्षण मर जाना मेरी अपनी लम्बी तपस्या का फल है। मुझे सिद्धि प्राप्त हो गई है। यह प्रतीति करके वह वहाँ से उठकर भिक्षाटन के लिए पास के एक गाँव में एक सद्गृहस्थ के दरवाजे पर जा पहुँचा। 'माँ भिक्षा दो' यह आवाज उसने कई बार लगाई किन्तु लम्बी प्रतीक्षा करने के बाद भी जब कोई अन्दर से भिक्षा लेकर नहीं आया तो साधक के क्रोध का पारा और ऊँचाई पर जा पहुँचा। वह कुछ और सोचता इसी बीच भीतर से एक महिला निकलकर आई और साधक की झोली में भिक्षा डालने लगी। बजाय कृतज्ञता प्रकट करने के साधक ने बड़बड़ाते हुए महिला पर अपनी तीव्र दृष्टि डाली और कहने लगा—माई साधक देर से खड़ा चिल्ला रहा है और तुम अनसुना करके उसके भिक्षाटन की उपेक्षा करती रहीं। जानती नहीं इस उपेक्षा का परिणाम क्या हो सकता है?

महिला ने सहज भाव से जवाब देते हुए कहा—महाराज मेरा जल्दी भिक्षा लेकर न आना मेरी मजबूरी थी। मैं अपने रोगी पति की सेवा में संलग्न थी, यह मेरा प्राथमिक कर्त्तव्य था और इसी कर्त्तव्य के पालन के कारण मैं यह जानते हुए भी कि आप अपनी कुदृष्टि से एक पक्षी को भस्म करके चले आ रहे हैं—विलम्ब से बाहर आ सकी हूँ।

साधक यह सुनते ही आश्चर्य में पड़ गया। हतप्रभ-सा होकर सोचने लगा—मेरे साथ जंगल में घटी घटना का पता इसे कैसे इतने दूर रहने पर चल गया! अवश्य यह करामाती देवी है। वह उसके पैरों में गिर पड़ा और बोला—माँ मैं तेरा चेला हूँ। मुझे भी तू अपने ऊँचे अध्यात्म-ज्ञान की शिक्षा देकर अनुग्रहीत कर दे।

महिला ने कहा—भइय्या अध्यात्म-ज्ञान में धर्मव्याध ही यहाँ सबसे अधिक सक्षम है तू उसी के पास जनकपुर में जा वही तुझे अध्यात्म की शिक्षा प्रदान करेगा।

साधक यह सुनकर और भी आश्चर्य में पड़ गया। धर्मव्याध जो माँस बेचने का धन्धा करता है उसका अध्यात्म से क्या सम्बन्ध? लेकिन साधक जिज्ञासु था वह महिला से उसका पता पूछकर धर्मव्याध के पास जा पहुँचा। वह दुकान पर बैठा हुआ माँस का व्यापार कर रहा था। साधक के वहाँ पहुँचते ही उसने कहा—साधक भाई क्या तुम्हें यहाँ उस एक महिला ने भेजा है, यह सुनकर भी वह आश्चर्य में आ गया कि इसे कैसे मालूम हो गई उस महिला से हुई मेरी बातचीत। धर्मव्याध से इसका रहस्य पूछने पर उसने कहा। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। युगों पूर्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को माध्यम बनाकर संसार को अपना यह सन्देश दिया है कि जो लोग श्रद्धापूर्वक अपने सहज और स्वाभाविक कर्त्तव्य पालन में तत्पर रहते हैं उन्हें निश्चित रूप से सिद्धि मिल जाया करती है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत, सिद्धि विन्दति मानवः

अपने सहज और स्वभावानुसार कर्त्तव्य पालन से बढ़कर न कोई बड़ा कर्म है और न कोई अन्य धर्म। यही निचोड़ है गीता का।

□ श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

बाल मचलन

जीवन तत्व साधन की छठी क्रिया का नाम बाल मचलन है। जब छोटे बच्चे अपनी माता से रूठ जाते हैं तब वे चारपाई पर पड़े-पड़े हाथ-पैर चलाया करते हैं। इस क्रिया को करने के लिए सीधे चित्त लेट जाइये, दोनों हाथों की मुट्ठियों को बांध लीजिए और हाथों को कड़ा करके दोनों पैरों तथा हाथों को उसी प्रकार जल्दी-जल्दी चलाना चाहिए जैसे बच्चे मचलने के समय करते हैं। दोनों हाथ छाती के पास आगे पीछे चलते रहेंगे। पाँव भी आगे-पीछे होते रहेंगे। इस क्रिया में जब दायें पैर को ऊपर करेंगे तो दायाँ हाथ ऊपर चला जायेगा और जब बायाँ पैर ऊपर करेंगे तो बायाँ हाथ ऊपर की ओर चला जायेगा! इस प्रकार से दोनों हाथों व पैरों को क्रमशः जल्दी-जल्दी चलाना चाहिए किन्तु सिर यथार्थ रूप में जमा रहना चाहिए। इस क्रिया को एक मिनट तक करना चाहिए।

इस क्रिया को करते समय साधक की मनोभावना एक बच्चे की तरह हो जाती है और शरीर में एक स्वाभाविक आल्हाद पैदा हो जाता है। हाथ-पैरों को वेगपूर्वक चलाने से जो शरीर के नस-नाड़ियों का व्यायाम हो जाता है उसका लाभ तो अलग है ही। पर सबसे बड़ा लाभ मन की प्रसन्नता से सम्बन्ध रखता है। आज वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि खूब जोर से हँसने से स्वास्थ्य में बड़ा सुधार हो जाता है। मन में विकार आने पर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ईर्ष्या-द्वेष से तिल्ली व जिगर के रोग हो जाते हैं। निराशा और डर से हृदय रोग हो जाता है। क्रोध और घृणा से गुर्दों में विकार हो जाता है। चिन्ता से छाती और सिर में फोड़े व पीलिया रोग हो जाते हैं।

क्रोधी माँ का दूध पीने से बच्चों को प्रायः दस्त आने लगते हैं। चित्त की प्रसन्नता से कोई बीमारी नहीं होती और मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करता है। प्रसन्न चित्त होकर भोजन करने से भोजन खूब पच जाता है। प्राचीन-काल में जब राजा लोग भोजन करते थे, उस समय विदूषक और हंसमुख व्यक्ति वहाँ हँसी का वातावरण उत्पन्न करते थे।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि दिन में कम से कम एक बार जोर से ठट्ठा मार कर हँसना आवश्यक है। यदि किसी अन्य से न हँस सको तो अपना ही चेहरा शीशे में देखो और हँसो। बाल मचलन करने वाले को तो एक बार हँसने और प्रसन्न होने का अच्छा मौका लग जाता है। यदि आपको हँसने का अवसर नहीं मिलता तो बाल मचलन क्रिया कीजिए। इसके पश्चात् आप देखेंगे कि आपमें प्रसन्नता की लहर दौड़ने लगेगी और

आपको दिन भर तरोताजा बनाये रक्खेगी। इस क्रिया में यही गुण नहीं है कि करने वाला ही प्रसन्न होता है वरन् जो कोई दूसरा देखता है वह भी बिना हँसे नहीं रहता। प्रसन्न चित्त रहने का यह एक क्रियात्मक साधन है।

अंग्रेजी में एक कहावत है कि Laugh three times a day and keep the doctor away. अर्थात् दिन में तीन बार हँसो और डाक्टर को दूर रक्खो। यदि आप दिन में तीन बार बाल-मचलन किया करने लगें तो अनायास हँसने का मौका मिल जायेगा और आपको डाक्टर या वैद्य का द्वार नहीं खटखटाना पड़ेगा। प्रसन्न चित्त रहने के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों के मत निम्नलिखित हैं :

1. हँसो, शरीर से पुष्ट बनोगे।
(बेन जानसन)
2. हँसो, दीर्घकाल तक जीओगे।
(शेक्सपीयर)
3. प्रसन्न मुख को देखकर बड़े लोग भी खुश होते हैं। (वर्ड्सवर्थ)
4. हँसने के समान आरोग्यदायक दूसरा व्यायाम नहीं। (ह्यूफलैंड)
5. बिना हँसी के जीवन तो डरावना है।
(थकरे)
6. जब तू हँसेगा तो विश्व भी साथ देगा। (विलकाक्स)
7. घर में बच्चों के हँसने-कूदने की ध्वनि पृथ्वी का अत्यन्त मधुर नाद ही है।
8. स्वच्छ मन और हास्य देखते ही मालूम हो जाता है कि वह कितना शुद्ध और आनन्दयुक्त है।
(विक्टर ह्यूगो)

आज तक जितने व्यायाम मानव-समाज में प्रचलित हैं उनमें खिलखिलाकर हँसना सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि हँसने से हमारे समस्त स्नायुओं पर समान तनाव पड़ता है। ईश्वरीय सृष्टि में हँसी का आनन्द लेने का अवसर केवल मनुष्य को ही प्राप्त है, क्योंकि पशु-पक्षी आदि रो तो सकते हैं पर हँस नहीं सकते। चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए और प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार का उपाय करता है। कोई नशा पीता है, कोई जुआ, ताश, शतरंज खेलता है। कोई सिनेमा देखता है तो कोई दोस्तों में बैठकर गप्पबाजी करता है। किन्तु ये सब उपाय अनैतिक तथा पैसा व समय नष्ट करने वाले हैं। यदि थोड़ी-सी प्रसन्नता मिलती भी है तो उसके बदले भारी कीमत चुकानी पड़ती है। बाल-मचलन की क्रिया कितनी आसान, बिना खर्च वाली, कम समय वाली तथा अधिकतम लाभ देने वाली है। अन्य उपायों से प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए बाह्य उपकरण की आवश्यकता पड़ती है किन्तु बाल-मचलन बिना किसी अन्य उपकरण के कहीं भी की जा सकती है और प्रसन्नता का लाभ उठाया जा सकता है। श्री महाप्रभुजी का यह एक अनोखा आविष्कार है जो युवकों एवं वृद्धों को भी बालक बना देता है।

हमारा शरीर असंख्य जीवित सेलों का एक समूह है। हमारे मन व मस्तिष्क के प्रत्येक भले–बुरे अनुभव का प्रभाव उस पर पड़ता है। क्रोध के कारण मनुष्य का सम्पूर्ण शरीर गरम हो जाता है, कांपने लगता है। भय के समाचार से रोंगटे खड़े हो जाते हैं, दिल धड़कने लगता है। चित्त जब प्रसन्न होता है तो सारा चेहरा फूल के समान खिला हुआ दिखाई देता है। आँखें हँस रही सी जान पड़ती हैं। जो बालक परीक्षा में उत्तीर्ण होने का शुभ समाचार देने के लिए घर

दौड़ता है। उसका शरीर आनंद के मारे उससे भी आगे निकल जाने को करता है। यह बात गलत है कि जब कोई कष्ट आ पड़ता है तो चिन्ता व शोक घेर लेते हैं और मनुष्य का वश नहीं चलता। जिनको अपने स्वास्थ्य-सुधार का ध्यान है वे सर्वत्र हर हालत में प्रसन्न रहने का अभ्यास करते हैं। एक व्यक्ति दो रुपये कमाता है, वह रोता है और एक फकीर खाली जेब है मगर वह हँसता है और मस्ती से गाता है। यह सब मन का फेर है। यदि आपका मन बहुत समझाने पर भी हँसता नहीं है और हर समय चिन्तित व खेदयुक्त रहता है तो आप बाल-मचलन क्रिया का अभ्यास कीजिए। ऐसा करने पर आप देखेंगे कि प्रसन्नता आपके पास दौड़ी आ रही है।

रोगी की चिकित्सा में प्रसन्नता का बड़ा हाथ है। एक बार पाँच व्यक्ति नाव पर कहीं जा रहे थे। निश्चित स्थान दूर था तभी एक व्यक्ति के पेट में तीव्र पीड़ा उत्पन्न हो गई। वो मचलने लगा। उसी पार्टी का एक व्यक्ति बड़ा हँसोड़ा था। उसको एक सुन्दर कहानी याद आ गई और वह सुनाने लगा, जिसको सुनकर सभी के पेट में बल पड़ गये। सभी लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये। वह पेट का रोगी व्यक्ति भी हँसा और खूब हँसा, जिससे उसके पेट का दर्द एक बारगी दूर हो गया।

एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सक के पास एक युवक को लाया गया। उसकी आयु तीस वर्ष की थी। वह हृदय रोग से पीड़ित था। जाति का ठाकुर होते हुये भी अति दुर्बल था। उसके पिता व माता की अच्छी खेती-बारी थी और उन दो भाइयों के बीच वही अकेला लड़का था। युवक के रोगी होने पर उसके पिता ने उसे अच्छे-अच्छे वैद्यों-डाक्टरों को दिखाया और हजारों रुपया इलाज में खर्च किया, मगर कोई लाभ नहीं हुआ। अन्त में उसे लखनऊ मेडिकल कालेज ले गये और वहां डाक्टरों ने एक्स-रे आदि करके बतलाया कि युवक के हृदय की झिल्ली पर एक ट्यूमर बन गया है, जो दवा से ठीक नहीं हो सकता। उसका आपरेशन ही इलाज है, किन्तु हृदय का आपरेशन नाजुक है और हो सकता है कि रोगी की मृत्यु हो जावे। अतः डाक्टरों ने कहा कि यदि युवक के पिता बाण्ड भर देवें तो आपरेशन किये जा सकता है। युवक के पिता भयभीत होकर घर लौट आये और अपने परिजनों से सलाह करने लगे। उसी समय किसी ने उक्त मनोवैज्ञानिक चिकित्सक का पता बताया और कहा कि उनसे भी राय ले ली जाय।

मनोवैज्ञानिक ने युवक की पत्नी से उसके माता-पिता से अनेक प्रश्न किये और रोग के कारण का पता लगाकर कहा कि आपरेशन की कोई आवश्यकता नहीं है। यह युवक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा द्वारा ठीक हो जायेगा। उसके घर वाले बहुत प्रसन्न हुए और हजारों रुपये देने को तैयार हो गये। मनोवैज्ञानिक ने कहा—कि इसके इलाज में दो मास लगेगा और इस बीच युवक की स्त्री, माता-पिता, चाचा, बहिन आदि सभी परिजनों को मेरे पास आना पड़ेगा तथा मेरे प्रश्नों का सही उत्तर देना होगा ताकि मैं रोग की ग्रन्थि को खोल सकूँ और युवक को स्वस्थ बना सकूं। ऐसा ही किया गया और दो मास में वह युवक स्वस्थ हो गया। उसका पुनः एक्स-रे कराया गया तो ट्यूमर का कहीं पता नहीं था। सभी विकार दूर हो गये और वे लोग प्रसन्नतापूर्वक अपना जीवन बिताने लगे।

मनोवैज्ञानिक ने अपनी डायरी में लिखा है कि प्रश्नों द्वारा यह मालूम हुआ कि जब युवक 12 वर्ष का था तभी उसका विवाह कर दिया गया। उसकी स्त्री एक पढ़ी-लिखी आधुनिक विचारों वाली लड़की थी।

उसकी आयु 19 वर्ष की थी। लड़की स्वस्थ और यौवन पर थी युवक 12 वर्ष का दुबला-पतला बालक था। पहले ही दिन लड़की ने अपने बालक पति को फटकार दिया और उसका तिरस्कार किया। युवक को कुछ ठेस लगी और वह बीमार रहने लगा। लड़की अपने मायके चली गई और पुनः ससुराल जाने से इन्कार कर दिया। युवक के मन पर एक प्रहार हुआ और उसका जिगर बढ़ गया। उसे पीलिया रोग हो गया और अधिक कमजोर होने लगा। उसके पिता ने अच्छे-अच्छे डाक्टरों द्वारा उसका इलाज कराया और धीरे-धीरे वह स्वस्थ हो गया। उसकी दुर्बलता जाती रही और वह खेती-बारी का काम देखने लगा। अब उसकी आयु 16 वर्ष की हो गई। उसके पिता और चाचा ने उसका दूसरा विवाह एक अच्छी-सी लड़की से कर दिया। दैवयोग से इस बार विवाह के बाद जो लड़की आई वह बीस वर्ष की थी वह बड़ी स्वस्थ, सुन्दर और आकर्षक थी। कुछ दिन तो पति-पत्नी का साथ चलता रहा, किन्तु लड़का छोटा था और लड़की बड़ी इससे मेल नहीं बैठा। लड़की के मन पर असन्तोष छा गया और लड़का हीन भावना से ग्रस्त हो गया।

युवक का पिता प्रौढ़, शरीर से स्वस्थ व रूपवान था। घर में अपने लड़के की बहू को नित्य देखता था। धीरे-धीरे उसके मन में विकार उत्पन्न हो गया और कालान्तर में युवक के पिता का अनैतिक सम्बन्ध युवक की पत्नी से हो गया। कुछ दिन तो यह मामला छिपे-छिपे चला मगर भेद खुलता गया। अब तो वह लड़की अपने पति के सामने उसके कमरे से उठकर श्वसुर के कमरे में चली जाती और वहीं रात बिताती। युवक हीन भावना से ग्रस्त था। उसमें विरोध की शक्ति नहीं थी। वह अपनी निगाहों से इस दुराचार को देख रहा था और प्रतिरोध नहीं कर पा रहा था। इससे उसके हृदय पर गहरा आघात लगा और परिणामस्वरूप उसके हृदय पर ट्यूमर निकल आया।

मनोवैज्ञानिक ने अपनी चिकित्सा पद्धति द्वारा सभी भेदों का रहस्योद्घाटन कर दिया। उसने परिवार के सभी लोगों को बुलाकर उनके विचारों में परिवर्तन किया। युवक और युवती को समीप लाने के लिए अनेक मनोवैज्ञानिक उपाय किये और थोड़े दिनों के लिए उस दम्पति को पहाड़ों पर ले गया और वहाँ उन्हें प्रसन्नतापूर्वक एक दूसरे से मिलने, घूमने, खेलने, खाने और विहार करने की सुविधा प्रदान करदी। युवक के आहार-विहार में समुचित परिवर्तन करके उसका स्वास्थ्य सुन्दर बना दिया। लड़की के विचारों में भी परिवर्तन आ गया और वह अपने पति से प्रेम करने लगी। दोनों प्रसन्नता पूर्वक जीवन यापन करने लगे। इस प्रकार वह युवक बिना किसी औषधि या आपरेशन के स्वस्थ हो गया। मनोवैज्ञानिक का मूलमन्त्र था मन में छिपे विकारों को बाहर कर देना तथा प्रसन्नता का जीवन में प्रवेश करा देना। प्रसन्नता वह संजीवनी बूटी है जो भयंकर से भयंकर रोगों को भी दूर कर सकती है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि—

प्रसादे सर्व दुःखानां,
हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु,
बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।

अर्थात्

पाकर प्रसाद पवित्र जन,
के दुःख कट जाते सभी ।
जब चित्त नित्य प्रसन्न रहता,
बुद्धि दृढ़ होती तभी ।

प्रसन्नता के होने पर सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है । प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ।

प्रसाद का साधारण अर्थ है । ऐसी प्रसन्नता जो हर्षविषाद में एक रस बनी रहती है । कठिन से कठिन दुःख में भी जिस पर उदासी की छाया नहीं पड़ती । जिसके अन्तर में प्रसन्नता का संगीत छिपा रहता है उस पर बाहरी सुख-दुखों का प्रभाव नहीं पड़ता ।

उपनिषद् कहती है कि—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न,
बिभेति कुतश्चनेति ।

ब्रह्म आनन्दमय है । आनन्दरूप ब्रह्म को जान लेने वाला कभी किसी प्रकार के दुखों से भयभीत नहीं होता । सदा प्रसन्न रहना मानसिक तप है । प्रसन्नता के अभाव में व्याकुलता, अशान्ति एवं घबड़ाहट रहती है । प्रसन्नता से शान्ति और स्थिरता आती है । प्रसन्नता में बुद्धि को कोई क्लेश, अभाव, राग-द्वेष अथवा विकार अशान्त नहीं कर पाते । प्रसन्न चित्त वाला सदा आनन्द के समुद्र में हिलोरें लेता है । कठिन से कठिन संकट में भी उसके मुख पर मुस्कराहट खेलती है । वह अपनी प्रसन्नता से दूसरों के हृदयों के जमे हुए मैल को धो देता है ।

एक वकील साहब थे उनकी स्त्री थी । किसी दिन वकील साहब पत्नी पर नाराज हो गये और कुछ अपशब्द कह गये । पत्नी भी तेज तर्रार थी । उसने भी दो-चार कटु वचन बोल दिये । बस फिर क्या था, एक दूसरे के साथ बोलना बन्द हो गया । वकील साहब का भोजन उनके कमरे में आ जाता और वे वहीं खाकर कचहरी चले जाते । वापस आते तो बाहर कमरे में बैठकर समय बिताते । कई दिन इस प्रकार बीत गये । एक दिन वकील साहब के मन में विचार आया कि यह क्या मुसीबत है । एक ही घर में हम रहते हैं । वह पत्नी है, मैं पति हूँ । हम आपस में बोलते नहीं हैं । पत्नी के मन में भी यही विचार आया, परन्तु अब पहल कौन करे ?

वकील साहब का एक आठ वर्ष का लड़का था । वह बड़ा ही हँसोड़ व प्रसन्न चित्त था । वह किसी कीर्तन में गया था और वहाँ से गाना सीख आया जिसकी पहली पंक्ति थी :—

मुख से कड़वे बोल न बोल ।

एक दिन वकील साहब कचहरी से आये तो उनका लड़का उनके कमरे में आ पहुँचा और वहाँ बैठकर गाने लगा—

मुख से कड़वे बोल न बोल ।

वकील साहब ने सुना तो बोले—देख बेटा ! यहाँ नहीं, अपनी माँ के कमरे में जाकर गा ।

बच्चा वहाँ से माँ के कमरे में पहुँचा और

एक ओर बैठकर गाने लगा—

मुख से कड़वे बोल न बोल ।

माँ ने यह बात सुनी तो मुस्करा उठी और बोली—देख बच्चे यह बात अपने पिता जी से जाकर कह। बच्चा वहाँ से हँसता हुआ उठा और अपने पिताजी के कमरे में जाकर गाने लगा—

मुख से कड़वे बोल न बोल ।

वकील साहब ने कहा—अरे तू फिर आ गया। तुझे कहा कि अपनी माँ के कमरे में जाकर गा। बच्चे ने हँसते हुए कहा कि बड़ी मुसीबत है। माँ के कमरे में जाता हूँ तो वे कहती हैं कि पिताजी के कमरे में जाकर यह गीत गा और आपके कमरे में आता हूँ तो आप कहते हैं कि माँ के कमरे में जाकर गा। मैं अब किसी के कमरे में नहीं जाऊँगा। दोनों कमरों के बीच में बैठकर गाऊँगा—

मुख से कड़वे बोल न बोल ।

माँ अपने कमरे के द्वार पर खड़ी थी और पिता अपने कमरे के द्वार पर। दोनों इस गीत को सुनकर हँस पड़े। दोनों के मन का मैल कट गया। दोनों में मिलाप हो गया। यह है—प्रसन्नता का जादू। प्रसन्न चित्त लड़के ने अपने माता-पिता के मन के मैल को हँसते हुए गीत गाकर दूर कर दिया।

प्रसन्नता का मूल्यांकन नहीं हो सकता है। यह बाजार में भी नहीं मिलता है। यह अपने अन्दर से उठने वाली वस्तु है। यदि आप प्रसन्नता प्राप्त करना चाहते हैं तो बाल-मचलन किया कीजिए और आपका हृदय आल्हाद से भर जायेगा।

कौन क्या ?

बुद्धिमान् कौन है ? — जो श्रीभगवान् में प्रेम रखता है।

धनवान् कौन है ? — जिसके पास भजन की पूँजी है।

सुखी कौन है ? — जो हर बात में भगवान् की कृपा देखता है।

कीर्तिमान् कौन है ? — जो प्रभु के दरबार में भक्त समझा जाता है।

पण्डित कौन है ? — जो संसार के और भगवान् के स्वरूप को ठीक-ठीक जानता है।

त्यागी कौन है ? — जिसके मन में कोई भी कामना या वासना नहीं है।

☐ योगी आत्माराम जी द्वारा निर्धारित :-

योग–सिद्धान्त

कुण्डलनी महाशक्ति

सशैलवनधात्रीणां यथाऽऽधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाऽऽधारो हि कुण्डली ॥

जैसे पर्वत् वनों सहित समस्त भूमियों के आधार शेषनाग होते हैं। वैसे ही सम्पूर्ण योग के तन्त्रों का यानी उपायों का आधार कुण्डलनी यानी आधार शक्ति है। भूमि यदि सम्पूर्ण एक ही है तो भी देश भेदों से बहुवचन का प्रयोग किया गया है। कुण्डलनी के बोध के बिना समस्त योगों के उपाय व्यर्थ हो जाते हैं।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥

सोई हुई कुण्डलनी जब गुरुजी की कृपा से जाग्रत हो जाती है तब सारे पद्म यानी षटचक्र खिल जाते हैं और ब्रह्म ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि, रुद्र ग्रन्थि ऐसे तीनों ग्रन्थियां भी खुल जाती हैं।

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदा चित्त निरालम्ब तदा कालस्य वञ्चनम् ॥

वैसे ही शून्य पदवी यानी सुषुम्ना नाड़ी प्राणवायु के लिए राज पथ बन जाती है। जैसे राजा राजमार्ग में सुख से निकलता है वैसे ही प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में सुख से चली जाती है। और तभी चित्त निरालम्ब यानी विषयों से विमुख हो जाता है। और तभी काल का भी प्रतारण होता है। अर्थात् योगी को मृत्यु का भय नहीं रहता है।

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः ।
श्मशान शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥

सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग, सब एक अर्थ के वाचक हैं। अर्थात् इन सब शब्दों का सुषुम्ना नाड़ी अर्थ होता है।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥

जिससे यानी कुण्डली के बोध द्वारा ही षट्चक्रादिकों का भेद हो जाता है। जिस कारण से समस्त प्रयत्नों द्वारा सच्चिदानन्द रूपी ब्रह्म द्वार यानी सुषुम्ना नाड़ी के मुख में सोयी हुई ईश्वरी यानी कुण्डली को जगाने के लिए मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिये। (हठयोग प्रदीपिका से)

नम्रता और भक्ति

☐ श्री विष्णु प्रसाद व्यास

"जो तुमसे छोटे हैं अथवा जो तुम्हारे आश्रित हैं उन्हें भक्त और नम्र बने रहने की शिक्षा दो। यदि तुम उनकी बड़ाई करोगे तो उनमें गर्व आ जायगा।

मनुष्य के चरित्र निर्माण में शिक्षा का विशेष महत्व है। भक्ति और नम्रता भरी शिक्षा मानव जीवन को सुखमय बना देती है। इसी आधार पर श्री गुरु महाराज जी ने ऊपर लिखित श्री वचन विशेषतः उनके लिए कथन किये हैं जिन्हें ऊँची पदवी प्राप्त है अर्थात् जिनके हाथ में अनेक जनों की जीवनचर्या है।

प्रायः प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि मेरे बच्चे, शिष्य या आश्रितजन सदा ही सुखी और आनन्दित रहें। इसके लिए उन्हें आवश्यक है कि वे अपने बच्चों या आश्रितों को सुन्दर वस्त्र और रमणीय आवास बनवा दें। उन्हें भक्ति और नम्रता भरी शिक्षा प्रदान करें। उस उत्तम उपयुक्त शिक्षा के प्रताप से जितने भी सांसारिक पदार्थ उनके होंगे वे सब सुखदायक बन जायेंगे। मानलो कि उनके अधिकार के संसार की पुष्कल सामग्री तो संचित हो गई किन्तु यदि भक्ति और नम्रता की भावनाओं से पूर्ण विद्या न मिली तो वह विषमयी बन जायगी। और उनके लिए दुःखदायिनी हो जायगी। वास्तव में विद्या की परिभाषा ही यह है कि वह भक्ति और नम्रता का संचार जीवन में करती हो। शास्त्र के वचन है :—

> **विद्या ददाति विनयम्,**
> **विनयाद् याति पात्रताम्।**
> **पात्रत्वाद् धनमाप्नोति,**
> **धनाद् धर्मं ततः सुखम् ॥**

अनुकूल विद्या से नम्रता आती है। नम्रता से मनुष्य सुपात्र बनता है। सुपात्र होकर उसे धन मिलता है और धन के होने से वह धर्म और सुख दोनों का संचय कर लेता है।

विश्व की दशा के अवलोकन से विदित होता है कि वर्तमान युग में जो विद्या दी जाती है उसमें भक्ति और नम्रता का समावेश बहुत न्यून है—वह समाप्त प्रायः हो रहा है। आजकल के शिक्षित समुदाय में जो अशान्ति और अव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है वह इसी का ही परिणाम है। इससे समस्त वातावरण ही अशान्त-सा हो जाता है। जब तक शिक्षा प्रणाली में आध्यात्मिकता की पुट नहीं दी जायेगी तब तक वह विद्या अविद्या ही रहेगी। पढ़-लिखकर भी मनुष्य मूर्ख और निरक्षर बना रहेगा। सन्त तुलसीदासजी के वचन हैं :—

काम क्रोध मद लोभ की, जब लग घट में खान।
तुलसी पण्डित मूर्खा, दोनों एक समान ॥

शिक्षा तो उसे ही कहना चाहिए जिससे आध्यात्मिकता, भक्ति और नम्रता का प्रकाश हो जावे जिससे विकारों के तिमिर का नाश हो। उसी विद्या से ही जनसाधारण भी पूजनीय बन सकता है। इस पर प्राचीन इतिहास है :—

प्रयागराज के निकट एक राजा राज्य करता था। वह बड़ा सत्संग प्रिय था। उसकी एक लड़की थी जिसका नाम था मदालसा। वह भी बहुधा सन्तों के सत्संगों में जाया करती थी। इससे वह भक्त और नम्र बन गई। राजा ने उसका विवाह एक भक्तिपूर्ण संस्कारों वाले राजकुमार से कर दिया। विवाह हो जाने पर एक दिन उसने पतिदेव से बड़ी नम्रतापूर्वक प्रार्थना की कि मेरा एक विचार है परन्तु वह पूर्ण तब हो सकेगा जब आप भी उसमें सहमत होंगे। राजपुत्र ने सहर्ष कहा कि तुम अपना विचार तो कहो। मेरा विचार यह है कि हमारी जो भी सन्तान हो उसे मैं भक्ति और नम्रता की शिक्षा दूं जिससे वह जगत् के महादुःखों से आकुल न हो और वह चौरासी के चक्र से विलग रह कर विमुक्त हो जाय।

उसके पतिदेव ऋतुध्वज ने अनुमति देते हुए कहा कि तुम अपना यह पवित्र संकल्प सहर्ष पूरा सकती हो। यह सुनकर मदालसा अति प्रसन्न हुई। उसके तीन पुत्र हुए जिनके नाम उनके पिता ने इस प्रकार रखे विक्रान्त, सुबाहु और शुभमर्दन। पुत्रों का नाम करण देखकर मदालसा हँसकर रह गई क्योंकि वह जानती थी कि ये नाम तो काल्पनिक हैं वस्तुतः उन्हें विरक्त होना है। बच्चों को रानी मदालसा शैशव में ही इस प्रकार लोरी दिया करती थी—जिससे उनकी निर्दोष, सुकुमार आत्माएं अपने स्वरूप को जान लें।

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि,
संसार मायापरिवर्जितोऽसि।
संसार स्वप्नं त्यज मोहनिद्रा,
मदालसा वाक्यमुवाचपुत्रम्॥

"पुत्र! तुम शुद्ध हो! ज्ञानस्वरूप हो। निर्मल हो! संसार की माया से सर्वथा रहित हो! संसार स्वप्नवत् है इसलिए मोह निद्रा का त्याग करो।"

मदालसा का यह नियम था कि अपने प्रत्येक पुत्र को पांचवे वर्ष में ऐसे गुरुकुल में भेजती जहां उसे भक्ति और विनय की शिक्षा मिलती थी, इससे बालक सत्यासत्य का विवेक करना सीख लेता और संसार के मिथ्या पदार्थों से उदासीन होकर वह भक्ति-भजन में लीन रहता। उसे देखकर मदालसा पुलकित हो उठती। इसी प्रकार से तीनों बेटों को ऐसी शिक्षा के सांचे में ढालकर उन्हें मुक्त रूप कर दिया।

एक दिन अवसर देखकर राजा मदालसा के बोले ऐ रानी! मेरा विचार है कि इस समय जो बच्चा गर्भ में है उसे राजनीति की शिक्षा देकर ऐसा संस्कारी बना दिया जाय जिससे वह बड़ा होकर राजकाज का सब भार संभाल सके और हम दोनों गुरु महाराज की कुटिया में रहकर शेष जीवन को भजन-भक्ति में व्यतीत कर सकें।

महारानी ने सहर्ष राजा की बात मान ली और उस बालक को राजनीति की शिक्षा देना आरम्भ किया। जन्म के उपरान्त भी उसे वैसी ही शिक्षा दी गई। उसके बड़े होने पर राज-काज का भार उसके कन्धों पर डालकर गुरुगृह जाने के लिए तत्पर हो गये। प्रस्थान करते समय एक "रक्षा कवच "उस राजपुत्र बालक की भुजा पर बाँध दिया और उसे समझाया कि "ऐ सुत! जब तुम पर कभी कठिन विपदा आ पड़े तो इस कवच को खोलकर पढ़ लेना। उसमें वह शिक्षा दी गई है जिसके अनुसार आचरण करने से तुम्हारी सकल विपदायें टल जायेंगी। वे दोनों यह सब कार्य करके विदा हो गये।

मार्ग में ही उन तीनों बेटों के आश्रम थे जहाँ वे ऋषि बने हुए तपस्या किया करते थे, जब राजा ऋतुध्वज और रानी मदालसा उन आश्रमों से गुजरे तो तीनों सुपुत्रों ने एक साथ मिलकर देवरूप अपने माता पिता आतिथ्य सत्कार किया और विनय की कि 'हमारे योग्य कोई सेवा हो तो अवश्य कहिये, "मदालसा ने प्रसन्न होकर कहा—ऐ पुत्र एक कर्त्तव्य का मैं तुम्हें स्मरण कराती हूँ कि तुम अपने राजा भाई का विशेष ध्यान रखना ऐसा न हो कि वह असत्य जगत् की माया में उलझ जाये। राज-काज का सब कार्य करते हुए भी वह सद्-असद् का विवेक करता रहे और वह भी कल्याण का भागी बन सके। लड़कों ने माता-पिता के वचनों को शिरोधार्य किया। राज दम्पत्ति गुरुजी के आश्रम में रहकर अपना शेष जीवन गुरु शुश्रुषा, भजन-भक्ति, ध्यानादि में लगाकर सानन्द जीवनयापन करने लगे।

एक दिन वे तीनों भाई विक्रान्त, सुबाहु शत्रुमर्दन जो अब ऋषि बने हुए थे मिलकर अपने राजा भाई अलर्क के राजप्रासाद में पहुँचे। उसके विचारों की परीक्षा के लिए बोले कि "हम भी तो तुम्हारे भाई हैं—इस राज्य को क्यों न चार भागों में बाँट दिया जाय। हम भी चाहते हैं कि राज्य का शासन करें। "यह सुनते ही वह आवेश में आ गया और बोला—"वह कैसे? यह राज्य तो मेरा है—तुम कैसा दावा करते हो—यहाँ से नौ दो ग्यारह हो जाओ अन्यथा दण्ड के भागी बनोगे।"

यह टका-सा उत्तर सुनकर वे समझ गये कि यह तो माया के मोह में अटका हुआ है—सत्-असत् का विवेक इसे नहीं रहा। इसे इस प्रचण्ड मोह से छुड़ाने का कर्त्तव्य जो माताजी ने हमें सौंपा था—करने का समय आ गया है। इस समय हमारा उपदेश तो कोई इस पर प्रभाव डालेगा नहीं—क्योंकि इसमें न श्रद्धा है और न विश्वास। लोभ में इस समय यह अन्धा हो रहा है—उन्होंने गहरा विचार करके यह युक्ति निकाली कि काशी नरेश की सहायता से उस पर चढ़ाई की जाय। फिर उन्होंने ऐसा ही किया।

उस आकस्मिक आक्रमण के हो जाने पर राजा अलर्क उनका सामना न कर सका। जब उसे अपनी पराजय होती दिखाई दी तुरन्त ही उसे भुजा पर बँधे हुए रक्षा-कवच का ध्यान आ गया। उसे खोल कर पढ़ा उसमें लिखा था—

साधु संगत है औषधी, कुसंग है काला नाग।
रह न सके सत्संग कर, सर्व संग परित्याग॥

इसे पढ़ते ही उसके विवेक चक्षु खुल गये और वह रातों-रात भागकर अपने भाइयों के पास पहुँचा और बोला कि "मैं आपकी सेवा में आया हूँ—मेरी रक्षा करो।" यह शब्द सुनकरके वे प्रफुल्लित हुए और तत्काल सेनाओं को लौट आने का आदेश दिया गया। फिर भाई को गले लगाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। भाई अलर्क को न्यायोचित शिक्षा दी सत्संग भरा उपदेश किया और राज्य-व्यवस्था का भी प्रबन्ध गुप्त रूप से कर दिया।

इस प्रसंग में कई लोग कहेंगे कि वे तीनों भाई तो निवृत्ति मार्ग के पथिक थे—उन्हें राज-काज से कोई सम्बन्ध ही न था—वे ऋषि बन चुके थे फिर उन्होंने यह आक्रमण आदि क्यों किया ?

इसका कारण यह है कि वे क्योंकि अपनी माता को गुरु सदृश मानते थे—उनके वचनों का परिपालन करना अपना मुख्य कर्त्तव्य समझते थे। इसीलिए ही उन्होंने यह सारा खेल किया। उनका काशीराज के पास जाना, सहायता की प्रार्थना करना, भाई की राजधानी पर ससैन्य आक्रमण करना, युद्ध होना, यह सब कुछ उनकी प्रतिष्ठा के योग्य तो था परन्तु उन्होंने इसी में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझी क्योंकि उन्हें गुरु-रूप माताजी का आदेश था और उसे पालना भी आवश्यक था।

इसी प्रकार से सन्त महापुरुष जब-जब विश्व में अवतरण लेते हैं, उनके दरबार की समस्त रचना कार्य-व्यवहार जो एक विराट् रूप में चल रहा होता है यद्यपि उन्हें भी अपने समर्थ सद्गुरुओं से ऊपर से ऐसा ही आदेश होता है जिससे वे अगणित अपनी आत्माओं का कल्याण करने के लिए इतना विस्तार करते हैं—जन-साधारण उसे देखकर भ्रम और संशय में पड़ जाते हैं। परन्तु वस्तुतः यह होता सत्य है वे मन्द बुद्धि जीव इस रहस्य को समझ नहीं पाते।

सन्त सत्पुरुष तो अलौकिक विभूति होते हैं, वे विश्व के स्तर से बहुत ऊँचे चलते हैं। उनका लक्ष्य केवल विश्व कल्याण करने का होता है। वे जीवों को मोह माया के बन्धनों से छुड़ाकर कुछ समझने लगते हैं—जैसे गोसाईं तुलसीदास जी ने कहा है:—

नयन दोष जा कहँ जब होई।
पीत बरन ससि कहुँ कह सोई॥
जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा।
सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा॥
नौकारूढ़ चलत जग देखा।
अचल मोह बस आपुहि लेखा॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी।
कहहिं परस्पर मिथ्याबादी॥
(रामचरित मानस उत्तर काण्ड)

जिसे पीलिया का रोग हो जाता है वह चाँद को पीले रंग का कहने लगता है। जब किसी को दिशा भ्रम हो जाता है तब वह कहता है कि सूर्य पश्चिम से उदित हुआ है।

नाव में बैठा हुआ पुरुष तट पर के वृक्षों और भवनों को चलता हुआ बताता है इसी भ्रम में अपने को अचल बताता है। गोल चक्र में घूमते हुए बच्चों का मस्तिष्क जब

चकरा जाता है तो उन्हें गृह द्वारा और सब दिशायें चलती हुई दिखाई देती है। परन्तु होता सब झूठ है—वे मिथ्या ही बातें करते हैं।

इसी प्रकार से अज्ञानी और बुद्धि हीन लोग महापुरुषों के व्यवहार को देखकर विस्मित हो जाते हैं। वस्तुतः उनकी समस्त कार्यवाही अपने गुरु की आज्ञा से हो रही होती है और उसमें जीवों का कल्याण अन्तर्हित होता है।

निष्कर्ष यह जब ऋषियों ने देखा कि राजा मोह रहित हो गया है तो उससे कहने लगे कि अब हम तुम्हारा नाम 'निर्मोही' राजा रखते हैं और तुम अपना राजकाज जाकर सम्हालो। परन्तु सतर्क रहना कि तुम्हें फिर अपने राज-सिंहासन से मोह न होने पावे। अपना पूरा ध्यान प्रभु के चरणों में रखना—"सत्य वचन" कहकर राजा अलर्क मोह रहित होकर राजकाज करने लगा। उसके घर में एक सन्तान ने जन्म लिया। उसे भी उसी प्रकार से भक्ति और नम्रता की शिक्षा दी गई। राज्यभर में सर्वसाधारण को मोह रहित होने के आदेश दिये गये। इससे समस्त प्रजा सुख-पूर्वक रहने लगी। किसी भी घर में मोह का नामोनिशान भी नहीं दिखाई दिया।

यह सारा परिणाम उस भक्ति व नम्रता की शिक्षा में था—परन्तु आजकल तो सब कोई बड़ा बन जाना चाहता है। हर एक की यही चाह रहती कि मैं ऊँची पदवी पाकर कुर्सीनशीन हो जाऊँ। भक्ति और नम्रता के न होने से देखा यह जाता है कि वही कुर्सी ऊपर बैठने वाले को ही खा जाती है। जीवित मनुष्य को मृतवत् कर देती है। जड़ अर्थात् निर्जीव वस्तुयें जीवित प्राणियों पर प्रबल हो जाती हैं। यह सब कुछ समुचित शिक्षा के न मिलने का ही दुखद फल है।

इसीलिये श्री गुरुदेव महाराज जी हमारा आधार ही ऐसा बनाना चाहते हैं कि भविष्य में जीवन का भवन सुदृढ़ बन जाय। शिक्षा में ही जब भक्ति और विनय शीलता के सद्भावों का समावेश नहीं हो जायेगा तब तक मानव जीवन में सौन्दर्य की आशा करना व्यर्थ है।

★ 'भगवान् को बुलाना हो तो अनन्य प्रेम करना चाहिये। प्यारे मोहन की माधुरी मूर्ति को मन से कभी न भुलावे। आर्त-भाव से भगवान् के लिये रोवे। भगवान् अपने प्रेमी भक्त के साथ रहते हैं। तुम अनन्य प्रेम करोगे तो तुम्हें भगवत्प्राप्ति अवश्य हो जायेगी।'

★

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

☐ आचार्य शंकर कृत
(चर्पट पंजिका से)

भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते ।
प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ्करणे ।।१

अर्थ :—हे मूढ़ बुद्धिवाले ! तू गोविन्द यानी ईश्वर का भजन कर । जब मरण का समय समीप आवेगा तब डुकृञ्करणे (डुकृञ्धातु पाठ करने के अर्थ में है) ऐसा व्याकरण का पाठ तेरी रक्षा नहीं करेगा !

बालस्तावत्क्रीड़ासक्त स्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।
वृद्धस्तावच्चिंतामग्नः परेब्रह्मणि कोऽपिनलग्नः ।।२

अर्थ—जब तक मनुष्य बालक होता है तब तक खेल-कूद में लगा रहता है, जब तक युवा रहता है तब तक युवा स्त्री में आसक्त रहता है और जब वृद्ध होता है तब चिन्ताओं में डूबा रहता है, परन्तु कोई परब्रह्म में आसक्त नहीं होता। इसलिये हे मूढ़ बुद्धि वाले ! तू गोविन्द का भजन करले ।

अंगं गलितं पलितं मुण्डम्, दशन-विहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ।।३

अर्थ—अंग गल गया, सिर के बाल सफेद हो गये, मुख दांत रहित पोपला हो गया, वृद्ध हुआ, लाठी के सहारे चलता है, तो भी आशा के पिण्ड को नहीं छोड़ता ।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी-जठरे शयनम् ।
इस संसारे खलु दुस्तारे कृपया पारे पाहि मुरारे ।।४

अर्थ—बारम्बार जन्म लेना पड़ता है, बारम्बार मरना पड़ता है, और बारम्बार माता के उदर में सोना पड़ता है, इसलिये हे मुरारी प्रभो ! इस दुस्तर संसार से मेरा उद्धार करो, ऐसी प्रार्थना कर, और गोविन्द का भजन कर ।

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिर वसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीड़ति गच्छत्यायुस्तदपि न मुंचत्याशा वायुः ।।५

अर्थ :—दिन होता है, रात होती है, सांझ होती है, सबेरा होता है, शिशिर वसंतादि ऋतुयें बारम्बार आती हैं, इस प्रकार काल क्रीड़ा करता है और आयु चली

जाती है, तो भी आशा रूपी पवन को नहीं छोड़ता। हे मूढ़मते! गोविन्द का भजन कर।

जटिलो मुंडित लुंचित केशः काषायंबर बहुकृत वेषः।
पश्यन्नपि च न पश्यति लोक उदर निमित्तं बहुकृत वेषः ॥६

अर्थ :—सिर जटायें रखने वाला, सिर के सम्पूर्ण बालों को मुंडाने वाला, नोंचे हुए बालों वाला, भगवां वस्त्र वाला, अनेक प्रकार के वेश धारण करने वाला, पेट भरने के लिए ही बहुत वेष धारण करता है, मूढ़ मनुष्य देखता हुआ भी नहीं देखता। गोविन्द का भजन कर।

वयसि गते कः काम-विकारः शुष्के नीरे कः कासारः।
क्षीणे वित्ते कः परिवारो ज्ञाते तत्वे कः संसारः ॥७

अर्थः—अवस्था चली जाने पर काम विकार नहीं रहता, पानी सूखने पर तालाब नहीं रहता, धन चले जाने पर परिवार नहीं रहता अर्थात् धन के कारण ही परिवार पीछे लगा रहता है धन न होने से होता हुआ परिवार भी कहाँ है? तत्व के जानने से संसार नहीं रहता। गोविन्द का भजन कर।

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू रात्रो चिबुक समर्पित जानुः।
करतल भिक्षा तरुतल वास—स्तदपि न मुंचत्याशा पाशः ॥८

अर्थः—आगे अग्नि जलता है, पीछे धूप पड़ती है, रात को घोटुओं के बीच में ठाढ़ी रखकर सोना पड़ता है, भिक्षा करने का पात्र न होने से हाथ ही भिक्षा का पात्र है, पेड़ के नीचे रहना पड़ता है तो भी आशा की फांसी को नहीं छोड़ता! गोविन्द का भजन कर!

यावद्वित्तोपार्जन सक्तस्तावन्निज परिवारो रक्तः।
पश्चाज्जर्जर भूते देहे, वार्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥९

अर्थः—मनुष्य जब तक धन कमा कर लाने में समर्थ होता है तब तक उसका परिवार—कुटुम्ब उसके आधीन रहता है, प्रीति रखता है और पीछे शरीर निर्बल होने से जब कमाने में असमर्थ होता है तब घर में कोई बात भी नहीं पूछता। इसलिए गोविन्द का भजन कर।

रथ्या चर्पट विरचित कंथ पुण्यापुण्य विवर्जित पन्थः।
नत्वं नाहं नायं लोक—स्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥१०

अर्थ—मार्ग में पड़े हुए चीथड़ों को बीन कर उनकी कंथा बनाने वाला, पुण्य पाप के मार्ग को छोड़ने वाला, तू नहीं, मैं नहीं यह लोक नहीं तो शोक क्यों करता है? गोविन्द का भजन कर।

सन्त रहीम खानखाना
और
उनके बोध वाक्य

जिन नैनन प्रीतम बस्यो, तहं किमि और समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आपु फिरि जाय॥

दिव्य दीनता के रसहि, का जाने जग अंधु।
भली बेचारी दीनता, दीनबंधु से बंधु॥

सदा नगारा कूंच का, बाजत आठों जाम।
रहिमन या जग आयकै, को करि रहा मुकाम॥

अब रहीम दर दर फिरैं, माँगि मधुकरी खाहिं।
यारो यारी छोड़ दो, वे रहीम अब नाहिं॥

रहिमन कोऊ का करै, ज्वारी, चोर, लबार।
जो पत राखनहार है, माखन चाखनहार॥

अमरबेलि बिनु मूल की, प्रतिपालत है ताहि।
रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि, खोजत फिरिए काहि॥

गहि सरनागति राम की, भवसागर की नाव।
रहिमन जगत-उधार कर, और न कछू उपाव॥

जो रहीम होती कहूँ, प्रभुगति अपने हाथ।
राम न जाते हरिन संग, सीय न रावन साथ॥

अब रहीम मुसकिल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिलैं न राम॥

रहिमन वित्त अधरम को, जरत न लागै बार।
चोरी करि होरी रची, भई तनिक में छार॥

उरग, तुरंग नारी नृपति, नीच जाति हथियार।
रहिमन इन्हें सँभारिए, पलटत लगै न बार॥

☐ काकासाहेब कालेलकर

मरण इष्ट है या अनिष्ट ?

सब कोई कहेंगे कि मरण सर्वथा अनिष्ट है। लेकिन क्या यह आवाज सही है ? मनुष्य की भावना और अपने आत्मीयों का मरण भले ही अनिष्ट मालूम होता हो, लेकिन उसे दूसरे लोगों के मरने पर विशेष एतराज नहीं दीख पड़ता।

व्यापक दृष्टि से देखा जाय, तो मनुष्य आहार के लिए, शिकार के लिए या मनोविनोद के लिए जिन पशु-पक्षियों को मारता है, उनका मरण तो उसे इष्ट ही मालूम होता है। जब हम कोई सड़ी चीज सुखाने के लिए धूप में रख देते हैं, तब हम उसमें पैदा हुए जन्तुओं का मरण ही चाहते हैं। जब हम पीने का पानी उबालते हैं, तब हम उसके अन्दर रहने वाले असंख्य जन्तुओं का मरण ही चाहते हैं। डाक्टर लोग जब जन्तुनाशक (एंटीसेप्टिक) दवाओं का उपभोग करते हैं, तब वे पाँच-दस या सौ-पचास ही नहीं, बल्कि कोट्यावधि जन्तुओं का संहार चाहते हैं।

इस तरह, यदि देखा जाय तो हम मरण कदम-कदम पर चाहते हैं, मरण की सहायता लेते हैं और मरण के लिए पूरा मसाला तैयार करके रखते हैं।

अब मनुष्य मनुष्य के बीच के व्यवहार का विचार करें। आजकल के महायुद्धों में क्या चल रहा है ? जर्मन लोग लन्दनवासियों का संहार करना चाहते हैं और ब्रिटिश बॉम्बर जर्मनों का सत्यानाश करने पर खुश हो जाते हैं। यह कौन कह सकता है कि मनुष्य का मरण भी सब लोग अनिष्ट ही मानते हैं ? जब कोई न्यायाधीश किसी खूनी शख्स को फाँसी की सजा देना चाहता है, तब वह खूनी व्यक्ति और वह न्यायाधीश, दोनों मृत्यु के ही प्रेमी होते हैं। खूनी व्यक्ति ने अपने दुश्मन का मरण चाहा, इसलिए न्यायाधीश ने समाज का प्रतिनिधि बन कर खूनी का मरण चाहा। एक का कृत्य समाज-द्रोह माना गया, दूसरे का समाज-सेवा। इनमें फर्क होते हुए भी दोनों मृत्यु के ही खैरख्वाह साबित हुए, इसमें शक नहीं है।

और क्या मनुष्य अपनी मृत्यु भी हमेशा अनिष्ट ही समझता है ? निराश होकर आत्महत्या करने के लिए जो तैयार हुआ है, ऐसे दुर्दैवी आदमी से जाकर पूछिये कि क्या वह मृत्यु को अनिष्ट समझता है ? और उन बूढ़े-बूढ़ियों को भी पूछ लीजिये, जिनके भोगेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों ने तो उनसे रुखसत ले ली है, लेकिन साँस और प्राण जिन्हें नहीं छोड़ रहे हैं, वे भी कहेंगे कि हम दिन-रात भगवान् से यही प्रार्थना कर रहे हैं कि हमें मौत का आराम प्रदान करें। और प्रेमी जीव भी कई दफा यही चाहते हैं कि

उनके प्रियतम की अन्तिम पीड़ा दूर करने के लिए अगर मरण ही एकमात्र चारा हो, तो उस निष्ठावान मित्र को भेजने में भगवान क्षण की भी देरी न करें।

महादजी शिन्दे के एक सरदार को दुश्मनों ने तोप के सामने खड़ा करके उड़ा दिया। छिन्न-भिन्न होकर वह किले की दीवार के नीचे गिर पड़ा। लेकिन उसके प्राण नहीं निकले। असह्य पीड़ा से व्याकुल होकर वह इसका इन्तजार कर रहा था कि किसी दयालु राहगीर की मदद से वह मरण का साक्षात्कार कर ले। जब ऐसा एक पथिक मित्र मिल गया, तब उसने स्वाभिमान पूर्वक मरण-दान की याचना की।

कायर होकर जीवन-दान माँगने वाले बहुत होते हैं, लेकिन मस्त होकर मरण-दान की याचना करने वाले भी कभी-कभी निकल आते हैं।

अगर दुनिया में मरण न होता तो नये-नये प्राणी जन्म भी न लेते। जन्म और मरण एक ही सिक्के के दो बाजू हैं। मरण है, इसीलिए दुनिया का जमा-खर्च ठीक रहता है। मरण से कोई नफरत न करे। वह सबका परम मित्र है, वह सर्व-समर्थ है, उसने कभी किसी को निराश नहीं किया।

आश्चर्य की बात यह है कि हरएक प्राणी मरणशील होते हुए भी मरण को कोई ठीक रूप से पहचानता नहीं। सामान्य लोग मरण से इतने डरते रहते हैं कि असल में मरण क्या चीज है, यह कोई सोचता ही नहीं। मृत्यु के समय शरीर में असह्य वेदना होती है, इसलिए लोग मरण से नफरत करते हैं। रोग होने पर उसे दूर करने के लिए डाक्टर हमारे पास आता है, उस डाक्टर को ही दुष्ट समझना कितना न्याय्य है, उतना ही, जब आदमी को रोग, प्रहार अथवा निराशा या ऐसा ही कोई आघात असह्य होता हो, तब उसकी व्यथा को दूर करने के लिए जो मरण आता है, उसे दोषी समझना न्याय्य है। जब कोई आदमी चिन्ता, अपमान या किसी रोग के कारण अपनी शैया पर करीब-करीब रात भर तड़पता रहता है और अन्त में दयालु निद्रा आकर उसे शांत करती है, तब कोई यह नहीं कहता कि निद्रा ही उसकी बैरिन है। एक अंग्रेज कवि ने अपने निन्द्रा-स्तोत्र में नींद को 'मनुष्यों की दयालु दाई' (काइण्ड नर्स ऑव मैन) कहा है। मरण के साथ भी अगर इन्साफ करना है, तो उसे मनुष्य का परम सखा कहना चाहिए। बड़े-बड़े धन्वन्तरि और मनोवैज्ञानिक, जो शान्ति और सान्त्वना मनुष्य को नहीं दे सकते, वह यह परम सखा निश्चित और स्थायी रूप से प्रदान करता है।

लोग कहते हैं, "इस तरह मरण का काव्यमय वर्णन करने से वह प्रिय थोड़े ही हो सकता है?" बात सही है, मरण इतना अनिवार्य और अवश्यम्भावी है कि उसकी सिफारिश करके उसको स्वीकार कराने की जरूरत ही नहीं। हमें तो सिर्फ दुःख और दुःख के बीच का बड़ा भेद बताना है। जीवन से वियोग होने के कारण आदमी को जो दुःख होता है, वह दुःख अलग है और मरण के पूर्व जो शारीरिक वेदना होती है, उसका दुःख अलग है। दोनों के लिए मरण का कुछ

भी उत्तरदायित्व नहीं है। मरण तो अपना सेवा-कार्य कर देता है और मनुष्य को दुःख-मुक्त करता है, इतना ही हमें बताना है।

गीता में कहा है कि जैसे कपड़े पुराने होने पर हम नये कपड़े पहन लेते हैं, उसी तरह एक देह के जीर्ण होने पर उसे छोड़कर मनुष्य दूसरी देह लेता है, इसमें दुःख करने का क्या कारण है?

यह आश्वासन सार्वत्रिक नहीं हो सकता है। जब कोई नौजवान, उसकी सारी शारीरिक और मानसिक शक्तियां उत्कृष्ट हालत में होते हुए भी, मारा जाता है अथवा किसी दुर्घटना से मर जाता है, तब हम यह आश्वासन कैसे ले सकते हैं कि जो वस्त्र फेंका गया, वह पुराना था? अभिमन्यु जब चक्रव्यूह में मारा गया, तब क्या अर्जुन यह मान सकता था कि उसके लड़के का शरीर जीर्ण-शीर्ण हो गया था, इसलिए वह उसने छोड़ दिया और अर्जुन का अपना शरीर इतना जीर्ण नहीं हुआ था, इसी वास्ते उसका देहपात नहीं हुआ?

आश्वासन तो इस विश्वास से मिल सकेगा कि वस्त्र के बिना कोई जीवात्मा रह ही नहीं सकती। जो वस्त्र फेंका गया, वह चाहे जीर्ण हो या नया, उसे फेंक देते ही दूसरा वस्त्र (देह) मिलने ही वाला है। प्राणियों के लिए देह धारण अवश्यंभावी है, यही एक आश्वासन हो सकता है।

इस प्रश्न की ओर अब हम एक दूसरी दृष्टि से देखें। हमारी मोक्ष की कल्पना क्या है? हम चाहते हैं कि एक दफा शरीर छूट जाने पर फिर से शरीर धारण करना ही न पड़े। कबीर ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य को मरना भी तो सीखना चाहिए। मरना ही है तो ऐसा मरे कि फिर से जीना ही न पड़े। जो लोग मृत्यु से डरते हैं, वे जीवन चाहते हैं। जिन लोगों ने दैहिक जीवन के, देहधारी अवस्था के, स्वरूप को अच्छी तरह से जान लिया है, वे तो जीवन से ही घबड़ाते हैं, मृत्यु से नहीं। वे कहते हैं, "कच्चे मरने से फिर से जन्म लेना पड़ता है। अगर कोई चीज खराब है तो जीवन है।" बौद्ध लोग भी जीवन के बन्धन से मुक्त होकर निर्वाण की शून्यता में प्रवेश करना चाहते हैं।

"तब जीवन क्या है?"—यही सवाल हमारे सामने खड़ा हो जाता है। "जीवन एक साधना है या सजा है?"

जब तक हम जीवन को नहीं पहचानते, तब तक मरण को भी नहीं पहचान सकेंगे। बचपन से ही हमने यह मान लिया है कि जीवन और मरण परस्पर-व्यावर्तक हैं, परस्पर-विरोधी हैं। "जहां प्रकाश नहीं, वहां अंधेरा है, उसी तरह जहां मरण आ गया, वहां जीवन खतम हुआ।" यह उपमा यहां जान-बूझ कर उलटे रूप में दी है। इसका रूप हो ही नहीं सकता। क्या हम यह कहें कि "जहां अंधेरा नहीं है, वहां प्रकाश है। अथवा जहां मरण नहीं, वहां जीवन है?" सच देखा जाय तो मरण का जीवन पर कुछ भी असर नहीं होता। जीवन के लिए मरण की उतनी ही कीमत है, जितनी देखती हुई आंखोंके लिए पलक मारने की। मरण सचमुच जीवन में न तो कोई बाधा डाल सकता है; न उसको घटा या बढ़ा सकता है। जीवन

तो निरंतर जारी ही है। अनेक मृत्यु आ जायँ, तो भी जीवन का प्रवाह नाटक के जैसा चालू ही है। समय-समय पर मृत्यु की यवनिका गिरती है, यह इष्ट ही है, वरना नाटक भाररूप हो जाता।

मरण अवश्यम्भावी है, इसमें तो संदेह नहीं है। किन्तु "मरण की उपयोगिता क्या है? अगर वह उपयोगी है, तो ऋतुचक्र के समान वह निश्चित समय पर क्यों नहीं आता?"

मरण की उपयोगिता वही है जो गणित में स्लेट बदलने की होती है। गणित का सवाल करते-करते जब स्लेट भर जाती है, तब आगे के लिए जितने आँकड़े काम के हों, उतने नई स्लेट पर लिख लिये जाते हैं और बाकी का सारा विस्तार मिटा दिया जाता है। अगर हम ऐसा न करें तो, स्लेट फिर से काम नहीं आवेगी और गणित भी आगे नहीं बढ़ेगा। एक जीवन में हम जो कुछ कमाते हैं, वह सब हमें वहीं-का-वहीं छोड़ देना है। लेकिन हम जो आंतरिक लाभ पाते हैं, उसे लेकर आगे बढ़ते हैं। "परस्मैपदी" लाभ इस आयु के लिए है। 'आत्मनेपदी' लाभ जन्म-जन्मांतर के काम आते हैं। परस्मैपदी लाभों का बोझ अगर बढ़ता चला जाय तो आदमी को देखते-देखते बुढ़ापा घेर लेगा और नये-नये अनुभव लेने की उसकी क्षमता ही नष्ट हो जायगी। ऐसे महान अभिशाप से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है मरण।

जीवन और मरण का विचार करते-करते हम पुनर्जन्म तक आ गये। लोगों का सामान्यतः ऐसा ख्याल है कि जिस तरह हम पानी, दूध या चावल एक बर्तन से निकालकर दूसरे बर्तन में भर देते हैं, उसी तरह जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि यह जीवात्मा नित्य है और अनन्त है। दूसरे कहते हैं, जीवात्मा का उतना ही स्वतंत्र अस्तित्व है, जितना किसी घड़े में भरे हुए 'घटाकाश' का। आकाश तो सर्वत्र एकरूप ही है, व्यक्तित्व आकाश का नहीं था; किन्तु घट की आकृति से कुछ काल के लिए उत्पन्न हुआ था। बौद्ध लोग ऐसे आकाश को 'शून्य' कहते हैं और घट को 'संस्कार-समुच्चय' कहते हैं। फलतः वे आत्मा को स्वीकार नहीं कर सकते। जो आत्मा सर्वगत है, वह 'शून्य' हो या 'ब्रह्म', व्यक्तित्व की दृष्टि से एक ही है। और जब जीवात्मा मायारूप ही है, तब मरण का उस पर कोई असर होने का कारण ही नहीं।

मरण होने पर यह व्यक्तित्व कहाँ जाता है? यह कहना कि विष्णुलोक में जाता है, इन्द्रलोक चन्द्रलोक में जाता है, इन्हीं का समाधान करना है। और फिर जब पता चला कि यह कल्पनामात्र है, तब उसे छोड़ देने की अपेक्षा उस कल्पना को रूपक मानकर हम उसमें से कुछ-न-कुछ दार्शनिक या आध्यात्मिक अर्थ निकालने की चेष्टा करते हैं। शुद्ध बुद्धि कहती है कि जिस तरह नमक या मिश्री का टुकड़ा पानी में गिरते ही घुल जाता है, उसी तरह मनुष्य का व्यक्तित्व उसके आसपास के समुदाय में विलीन हो जाता है। आदमी ने जो कुछ भला या बुरा किया हो, वह उसका शारीरिक, मानसिक

या आध्यात्मिक कर्म ही उसकी आत्मा थी। उसका जो कुछ असर समाज पर हुआ होगा, वही उसका मरणोत्तर जीवन है। मरण के पहले मनुष्य प्रधानतया अपने शरीर में रहता था और उस केन्द्र को सम्हालते हुए वह अपने व्यक्तित्व को इस समाज में या विश्व में चाहे जितना बढ़ा सकता था। मरण के बाद वह शारीरिक केन्द्र नष्ट हो जाता है, किन्तु जब तक उसके व्यक्तित्व की स्मृति बनी रहती है, तब तक उसका जीवन जारी ही है। उसका जो कुछ भला या बुरा कर्म समाज पर असर करता है, वही उसका मरणोत्तर जीवन है। ठण्डे कमरे में जब हम एक अंगीठी रखते हैं, तब कमरे की हवा में जो उष्णता आती है, उसकी अपेक्षा अंगीठी की उष्णता ज्यादा होती है। वही उसका व्यक्तित्व है। जब अंगीठी का कोयला खत्म हो जाता है, तब अंगीठी की सारी-की-सारी उष्णता कमरे को मिल जाती है। तब तो कमरे के अन्दर की सब उष्णता सम-समान हो गई। जो उष्णता अंगीठी के कोयले में थी, वह सारे कमरे में फैल गई। अंगीठीने कमरे का जितना व्यापक रूप धारण कर लिया और उसका मोक्ष हो गया। अंगीठी के कोयले मर गये। लेकिन उसकी उष्णता कमरे की गरमी के रूप में जीवित है। यही अंगीठी का मरणोत्तर जीवन है।

जब हम कमरे के दरवाजे और खिड़कियाँ खोल देते हैं, तब अन्दर की उष्णता बाहर की हवा में विलीन हो जाती है। कितना भी अल्प क्यों न हो, उस उष्णता का लाभ सारे वायुमण्डल को मिल ही जाता है।

मनुष्य के मरने पर उसका जीवात्मा कहिये या संस्कार समुच्चय कहिये, उसके व्यक्तिगत वायुमण्डल में या परिस्थिति में विलीन हो जाता है और अन्त में वहाँ सारे समाज में संस्कृति के रूप में रह जाता है। व्यक्तियों का सामुदायिक मरणोत्तर जीवन ही संस्कृति है। इसलिए संस्कृति को समाज की आत्मा कहना चाहिए। असंख्य जीवात्माएँ मिलकर यह सामाजिक विराटात्मा हम पाते हैं। व्यक्ति की कीर्ति जीवात्मा की छाया है। समाज की प्रतिष्ठा और उसकी सामाजिक आत्मा का व्यक्त स्वरूप है।

इस सामाजिक आत्मा की सेवा हम जीवन के द्वारा कर सकते हैं। मरण है तो जीवन का एक आवश्यक पहलू। इसलिए जब हम मौके पर मरना नहीं जानते, तब हमारा जीवन क्षीण और व्यर्थ हो जाता है। मरण में हमेशा जीवनद्रोह नहीं होता। अक्सर मरण में ही जीवन की परिपूर्ति और सार्थकता होती है। जो लोग मौके पर मरण का स्वीकार नहीं करते, उनका जीवन निस्तेज, भाररूप और व्यर्थ हो जाता है। उसके बाद उनके लिए पर्यावृत्ति सम्मरण, पुनःमरण जैसा विश्रान्ति—यह जितना होता है, वह उनके आत्मिक का मरण है और बाद में जो शारीरिक मरण आता है, वह उनकी विश्रान्ति है।

☐ श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए., बी-एड. सांख्य-योगाचार्य

卐 जो मन योगी होइ 卐

शारीरिक बीमारी किसी भीतरी गड़बड़ी के बाह्य चिन्ह हैं, जो समय-समय पर हमें चेतावनी देने के लिये आया करते हैं। इस चेतावनी को समझकर अंदर की गड़बड़ी ठीक करलें तो हम निराशा, चिंता, दुःख, परेशानी और हाय-हाय से छुटकारा पाकर स्वस्थ और प्रसन्नता रूपी सुगन्धि को बखेरने वाले प्रसूत बन सकते हैं। हमारे अन्दर की गड़बड़ी का कारण अधिकांशमें हमारी अनावश्यक इच्छायें हमारी मिथ्या धारणायें-प्रतिष्ठा, पद, योग्यता धन, ऐश्वर्य, वैभव तथा सम्मान की मन द्वारा मानी हुई एक आकृति का समय-समय पर किसी बाह्य व्यक्ति, घटना या परिस्थिति द्वारा खंडित हो जाना अथवा स्वयं अपने अनुभव द्वारा उसके बनावटीपन की कलई खुलने से आकाश से धरती पर आने की स्थिति का सामना न कर पाने पर मन में प्रतिकूल क्रिया हिंसा, क्रोध, ईर्ष्या, उत्पीड़न, अधिकार, लिप्सा, आत्म-प्रवंचना आदि के रूप में नया वेष बदल कर मनमें स्थान बना लेती है। मनुष्य संकल्प विकल्पों में द्वन्द-युद्ध या शीत-युद्ध छिड़ जाता है, जिससे व्यक्ति के अन्दर के विचारों, कल्पनाओं, अनुभूतियों और दृष्टिकोणों में पूर्वाग्रह और मान्यताओं तथा रूढ़ियों की लक्ष्मण रेखा खिंच जाती है, जिससे व्यक्ति के बाह्य सम्बन्ध वे नहीं रह पाते, जो वास्तव में होने चाहिये। बाहर व्यक्तियों और वस्तुओं के साथ साम्य न होने पर विचारों की एकता, क्रिया तथा संकल्प की एकता छिन्न-भिन्न हो जाती है। जब सभी अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग अलापने लगते हैं तो "द्वितीयात् भयं भवति' इस सिद्धान्त के अनुसार दूसरे को अपने से भिन्न मानने से परस्पर विश्वास, आदर-भाव, सहयोग और पारस्परिक समृद्धि के लिये श्रम और उद्योग करने की भावना तिरोहित हो जाती है।

विचारों की भिन्नता जीवन को कहाँ से कहाँ ले जाती है, इसका प्रत्यक्ष दर्शन विश्व की मानवता की विपन्न स्थिति को देख कर किया जा सकता है। आज समस्त विश्व का मनुष्य भय, तनाव, गरीबी, युद्ध, विनाश तथा शोषण के कगार पर खड़ा है। वह संहारक अस्त्रों का निर्माण-कर्ता है और जानता हुआ भी शान्ति की मिथ्या दुहाई देता है। राजनैतिक, वैज्ञानिक और धार्मिक गुरु और नेता मनुष्य की इस परेशानी का पूरा-पूरा फायदा उठाकर अनेक राजनैतिक व्यवस्थाओं, मत-मतान्तरों तथा विध्वंसकारी आयुधों के निर्माण द्वारा मनुष्य के चिंतन को स्वानुभव-हीन बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। नये-नये रोग हो रहे हैं और नई-नई औषधियों का आविष्कार भी चल रहा है। तथापि मनुष्य

का दुःख-दर्द कम होता नहीं नजर आता, निरन्तर बुद्धि पर है और मन की खटपट के के कारण विचारों की खटपट है। मनुष्य दूसरे के विचारों को ओढ़कर सुरक्षा करना चाहता है किन्तु अपने निज के बिना उसकी बेचैनी का कोई रास्ता नहीं निकल सकता।

जब तक व्यक्ति अपने आन्तरिक और बाह्य सम्बन्धों में सुधार नहीं लायेगा जब तक सुख और शान्ति का स्वप्न साकार नहीं हो सकता। जब मानव मन अपने समान ही अपने पड़ोस को, पशु-पक्षियों को और गुल्म-लताओं को देखने लगता है तभी अन्दर की गड़बड़ मिट पाती है और व्यक्ति सही अर्थ में स्वस्थ हो पाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने यही सन्देश दिया है कि—

आत्मवत् सर्वभूतेषु

यः पश्यति स पंडितः।

शुनिचैव श्वपाके च

पंडितः समदर्शिनः।

अर्थात् विश्व के समान जड़-चेतन पदार्थों में एक ही व्यापक आत्म-सत्ता का अनुभव करता है तभी वह मुक्त, स्वस्थ तथा सही अर्थों में बुद्धिमान कहलाता है। हीन और त्याज्य भाव भी समाप्त होकर जब वह अपने ही समान कुत्ते और चाण्डाल जैसे प्राणियों को देखता है तभी उसका दृष्टिकोण वास्तविक समझना चाहिये।

हमारे अनुभव, विचार और चिन्तन की धुरी हमारा मन है। मन का सम्बन्ध प्रकृति से बहुत घनिष्ट है। जब हम अपनी प्रकृति के अनुसार बाहरी विचारों, मान्यताओं, रूढ़ियों और शिष्टाचारों को न मानकर अपने अनुभव को सबके अनुभव के साथ देखना प्रारम्भ करते हैं तो हम प्रकृति के अधिक निकट हो जाते हैं। मन स्वभाव में जब तक स्थित रहता है तब तक उसमें गड़बड़ी नहीं हो पाती। स्वभाव का तात्पर्य प्राणिमात्र में विद्यमान आत्म-ऐक्य का अनुभव है जिसे योगेश्वर श्रीकृष्ण के—'स्वभावो अध्यात्म उच्यते' इन शब्दों में व्यक्त किया है। स्वभाव ही सम्यक् विचार है जिसके रहते मानव-मानव के बीच में छोटा और बड़प्पन नहीं आ सकता और न परस्पर विद्वेष, ईर्ष्या, क्रोध आदि का उदय हो सकता है। समता की भावना सुख-शान्ति का मूल है। जिसका मन साम्य में स्थित है वह सच्चा योगी है। योग-योगेश्वर श्रीकृष्ण ने योगकी परिभाषा में 'समत्व' को योग कहा है-

समत्वं योग उच्यते।

उपनिषदों में भी इसी सिद्धान्त का प्रकारान्तर में इस प्रकार कथन किया गया है—

तत्र को शोक को मोह

एकत्वं अनुपश्यतः।

जहाँ जड़ और चेतन में प्राणियों और अपने सभी अङ्गों में एकत्व की अनुभूति होने लगेगी वहाँ शोक, रोग, मोह आदि बिल्कुल समाप्त हो जायेंगे।

एकत्व की या समत्व की अनुभूति निर्विचार की स्थिति में होती है। भगवान पतंजलि 'योग सूत्र' में कहते हैं—

'निर्विचार वैशारद्ये अध्यात्म प्रसादः।'

अर्थात् जब मन के संकल्प-विकल्प शान्त हो जाते हैं तब मन शुद्ध हो जाता है। शुद्ध मन में जो अनुभूति होती है वह समत्व और एकत्व की होती है। इसे ही आत्मा का प्रसाद कहा गया है। 'योगवाशिष्ठ' में वशिष्ठजी भगवान राम को मन के सम्बन्ध में समझाते हैं कि मन जितना शुद्ध होता है उतना ही उसका अनु-

भव वास्तविक होता है। शुद्ध मन जैसा विचार करता है वैसा ही तुरन्त हो जाता है। शुद्ध मन के द्वारा मानव-कल्याण के उपायों का विस्तार होता है। इस जगत में संकल्प के सिवाय और कुछ नहीं है। नाम और रूप से जो भी वस्तु विद्यमान है उसके मूल में विचार या संकल्प की शक्ति है।

अज्ञानियों का विचार या संकल्प बाह्य वस्तुओं द्वारा संचालित होता है। ज्ञानियों का संकल्प आत्म-अनुभव और स्वविचार द्वारा नियमित होता है। जो जैसा विचार करता है वैसी ही क्रिया हो जाती है। योगियों का मन शुद्ध होने के कारण उनका संकल्प सभी में व्याप्त एकात्म सम्बन्ध होता है। इसलिये योगी लोग अपने आप अपनी अवस्था में रहते हुए दूसरी जगह अनेक रूप धारण कर लेते हैं। स्वर्ग में रहते हुए पृथ्वी लोक पर विचरते हैं।

अपने मन को भरने से रोकिये। यदि आपका मन घृणा, प्यार, हिंसा, मान-प्रतिष्ठा अहंकार, क्रोध, मोह आदि-आदि तत्वों से भरा रहेगा तो वह जो कुछ भी सोचेगा उससे अनिष्ट होगा और जो कुछ भी करेगा उससे न केवल स्वयं को दुःख और रोग होगा अपितु सारे विश्व को उत्पीड़ित कर देगा। वैदिक ऋषियों ने इस रहस्य को समझकर प्रभु से प्रार्थना की थी—

'समानमस्तु वो मनो
यथा वः सुसहासति'

अर्थात हमारे मन निस्संकल्प होकर एक समान हो जायं जिससे हमारी अनुभूति एक जैसी हो। हम अपने समान दूसरों को समझें और कष्ट न दें। बल्कि जिस प्रकार अपने को सुखी रखने का प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार दूसरों को रहने दें। यह भाव माला, छापा तिलक, सहभोज या समान भाषा, समान रीति-रिवाजों से नहीं हो सकता यदि मन का योग सध जाय तो कोई रोग, शोक या मोह नहीं रह सकते। योगी सन्त कबीर की वाणी इसका प्रमाण है—

तन को जोगी सब करें,
मन को बिरला कोइ।
जो मन को जोगी करै,
सहजै सब विधि होइ॥

★ यदि तुम किसी स्वामी के सेवक हो, तो स्वामी के कार्य में कहीं भी आलस्य न करते हुए अपनी सारी शक्ति और योग्यता-पूर्वक सेवा में संलग्न रहो। तुम इस बात की चिन्ता न करो कि हमारे श्रम को हमारा मालिक देख रहा है या नहीं, यहाँ तक उदार बनो कि अपने स्वामी से अपने श्रम का पुरस्कार पाने की इच्छा न करो; और आगे बढ़ सको, तो अपनी कार्यपटुता के लिए मान-बड़ाई की भी इच्छा न रखो। × × ×

★ शरीर के प्रत्यंगों में शक्ति रहते हुए जो परावलम्बी रहते हैं वह शक्ति का अपव्यय करते हैं।

—साधुवेश में एक पथिक

श्री केशवदेव उपाध्याय

गुरु किसे बनाना चाहिए ?

देवाधिदेव महादेव जगत्पति दयालु सिद्धेश्वर महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज के युगल-चरणों में कोटिश: प्रणाम के बाद योग-परक घटना का वर्णन करने का प्रयास किया जा रहा है। इस घटना में एक नवागन्तुक गुरु-भाई की प्रार्थना के उत्तर में आराध्यदेवजी ने जो आशीर्वादात्मक आदेश दिया था, उसी का समावेश मात्र है। मात्र गुरु-वाणी को यहाँ लिपिबद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है।

एक बार वाराणसी के योग-प्रचार कार्यक्रम में एक दिन एक दम्पत्ति श्री आराध्यदेव तथा सिद्धेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की कृपा-कथाओं को सुनकर श्री गुरुदेवजी महाराज के चरण-कमलों तक पहुँच गये। देखने से ऐसा लगता था कि वे किसी अच्छे परिवार से सम्बन्धित हैं और किसी अच्छी नौकरी में कार्यरत हैं। काफी देर तक यह दम्पति श्रीप्रभु दरबार में बैठकर उनकी (श्री सद्गुरुदेवजी महाराज की) मनोहर छवि को निहार रहे थे।

श्री प्रभुजी के मुखारविन्द का खूब अच्छी प्रकार से दर्शन कर लेने के बाद पत्नी ने अपने पतिदेव को कुछ संकेत दिया और इसके बाद वे दोनों उठे एवं श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में प्रणाम किया। पत्नी तो प्रणाम करके बैठ गई परन्तु पति हाथ जोड़कर खड़ा रहा।

आराध्यदेवजी ने कहा कि कहो लल्ला ! क्या बात है, कुछ कहना चाहते हो ? पति ने कहा कि हाँ महाराज ! मैं करीब 15-16 वर्षों से दुनियाँ में अनेक प्रकार के शारीरिक, मानसिक और दैविक कष्टों को झेल रहा हूँ। मेरा मार्ग-दर्शन करने की कृपा की जाय।

प्रभुजी ने कहा कि बैठ जाओ लल्ला ? और मेरी बातों को मन लगाकर सुनो। श्री प्रभुजी ने उसके बैठने पर फिर प्रश्न किया कि क्या मार्ग-दर्शन चाहते हो लल्ला ? नवागन्तुक साधक ने प्रार्थना की कि महाराज ! मुझे सही रास्ता बतलाने की कृपा की जाय। श्रीमुख ने आदेशित करना आरंभ किया कि देखो लल्ला ! एक कहावत है कि—"पानी पीये छान के, गुरु करे जान के।"

अत: तुम भी अपने विचार से खूब अच्छी प्रकार सोच-समझकर सामर्थ्यवान् गुरु की जानकारी प्राप्त कर लो और जब तुम्हें अच्छी प्रकार से जानकारी हासिल हो जाय कि ये अमुक महापुरुष सामर्थ्यवान् गुरु हैं तो उनको अपना गुरु बना लो। उनसे प्रार्थना करके उनके शिष्य बन जाओ। अब तुम्हारा

मन बिल्कुल पक्का हो जाय तभी किसी को अपना गुरु बनाना, उसके पहले किसी के बहकावे में आकर गुरु नहीं बना लेना और तुम जब किसी को सामर्थ्यवान् समझकर अपना गुरु बनालो, तब ही उनकी आज्ञानुसार अपनी साधना आरम्भ कर देना। सच्चे गुरु को यह बात खूब अच्छी प्रकार से ज्ञात रहती है कि उनके किस शिष्य की आध्यात्मिक पढ़ाई कहाँ से आरम्भ करनी है। अतः अपने गुरुदेव की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करना चाहिए।

मुझे इस समय सवाई गाँव के एक पण्डितजी की बात बार-बार स्मरण आ रही है, जो उसी गाँव की प्राइमरी पाठशाला में अध्यापक थे। उन पण्डितजी की प्राइमरी पाठशाला में एक दिन एक विद्यार्थी ने पढ़ने के लिए अपना नाम लिखवाया। पण्डितजी ने अपने इस बच्चे को पढ़ाना आरम्भ किया। वे कई दिन तक उसे अ, आ, इ, ई पढ़ाते रहे। करीब एक हफ्ते बाद उस विद्यार्थी को ये चारों अक्षर अ, आ, इ और ई याद हो गये। दूसरे हफ्ते पण्डितजी ने उस बच्चे को उ, ऊ, ए और ऐ पढ़ाना आरम्भ किया। जब पण्डितजी इस बच्चे को उ, ऊ, ए और ऐ पढ़ा रहे थे, उसी समय एक दूसरे विद्यार्थी ने उनकी पाठशाला में विद्याध्ययन के लिए अपना नाम लिखवाया। पण्डितजी ने दोनों बच्चों को सामने-सामने बैठाकर एक साथ पढ़ाना आरम्भ किया। पहले बच्चे को वे उ, ऊ, ए, ऐ पढ़ा रहे थे और बाद में आने वाले बच्चे को अ, आ, इ, ई पढ़ा रहे थे। बाद में आकर अपना दाखिला कराने वाले विद्यार्थी ने पण्डितजी से पूछा—पण्डितजी! आप दो प्रकार का क्यों पढ़ाते हैं? आप हमें भी उ, ऊ, ए, ऐ ही पढ़ाइये। पण्डितजी ने कहा कि नहीं बेटा! जब तुम्हें ये चारों अक्षर अ, आ, इ, ई याद हो जावेंगे तब हम तुम्हें भी उ, ऊ, ए, ऐ पढ़ायेंगे। बच्चे ने कहा कि नहीं पण्डितजी! आप पढ़ाई में बेईमानी कर रहे हैं? यह बच्चा हमसे पहले में अच्छा थोड़े ही है कि आप इसे आगे की पढ़ाई उ, ऊ, ए, ऐ पढ़ा रहे हैं। पण्डितजी ने कहा कि बेटा! तुम नहीं समझते, शान्ति से पढ़ो। उसने कहा कि पण्डितजी! आप नहीं समझा रहे हैं और इस स्कूल में आप बेईमानी कर रहे हैं? आप हमको भी उ, ऊ, ए, ऐ पढ़ाइये वरना हम स्कूल छोड़कर चले जायेंगे। पण्डितजी ने कहा कि बेटा! बिना अ, आ, इ, ई, याद हुए हम तुम्हें उ, ऊ, ए, ऐ नहीं पढ़ायेंगे। पण्डितजी द्वारा यह उत्तर सुनकर बाद में आने वाला दूसरा विद्यार्थी नाराज होकर स्कूल से निकलकर चला गया।

यह घटना आज से करीब तीस वर्ष पूर्व की है। श्री प्रभुजी ने आगे उपदेशित करते हुए कहा कि जैसा कि तुम लोग जानते हो, आज से तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व काफी उम्र के होकर बच्चे प्राइमरी पाठशाला में पढ़ने आया करते थे, क्योंकि उस समय शिक्षा के प्रचार और प्रसार का महत्व आजकल की अपेक्षा बहुत ही कम था। अब तो बच्चे बहुत ही कम अवस्था में प्राइमरी सेक्शन की पढ़ाई समाप्त करके आगे बढ़ जाते हैं। क्रोधावेश में नाराजगी से स्कूल से बाहर निकला हुआ वह विद्यार्थी अपने प्राइमरी पाठशाला के पण्डितजी को नीचा दिखाने का उपाय सोचने लगा। उसे तत्काल उपाय भी मिल गया और वह उस रास्ते में छिपकर बैठ गया, जिस रास्ते से उसके प्राइमरी पाठशाला के पण्डितजी घर से स्कूल आया-

जाया करते थे। सायंकाल अपने स्कूल की छुट्टी कर पण्डितजी जब अपने घर को जा रहे थे, उस बालक ने, जो रास्ते में मारने के लिए ही छिपकर बैठा था, एक पत्थर का टुकड़ा उठाकर जोर से उनके सिर पर मार दिया। टुकड़ा लगते ही पण्डितजी जमीन पर गिरकर बेहोश हो गये एवं उनके सिर से खून की तेज धारा निकलने लगी। उस बालक ने पत्थर मारकर अपनी मनोकामना पूर्ण की और तत्काल भागकर अपने घर जाकर छिप गया।

उस रास्ते से गुजरने वाले कुछ राहगीरों ने पण्डितजी को पहचान लिया, उन्हें यह देखकर बड़ा ही कष्ट हुआ। वे उन्हें बेहोशी की हालत में ही उठाकर आदर के साथ डाक्टर के पास ले गये एवं उनका समुचित इलाज कराया। पण्डितजी तत्काल होश में आ गये। कुछ दिन के डाक्टरी उपचार के बाद पण्डितजी बिल्कुल ही स्वस्थ हो गये। इसके बाद उन्होंने अपनी प्राइमरी पाठशाला में शिक्षण का कार्य सुचारु रूप से आरम्भ कर दिया, परन्तु वह विद्यार्थी जिसने पण्डितजी को पत्थर मारा था, आज भी बिल्कुल मूर्ख रहकर खेती का कार्य कर रहा है।

श्रीमुख ने आगे उपदेशित करते हुए कहा कि या तो किसी प्रकार की पढ़ाई पढ़े ही नहीं और यदि पढ़ने की तीव्र लगन है तो खूब सोच-समझकर और जान-बूझकर अपना गुरु बनाना चाहिए। फिर एक बार जब किसी को अपना गुरुदेव बना लिया तो उसकी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करना चाहिए। इसी में शिष्य का सब प्रकार से कल्याण है। यदि शिष्य गुरु के नियन्त्रण में नहीं रहता तो उसका भला होना मुश्किल-सा ही है। गुरुदेव खूब अच्छी प्रकार से जानते हैं कि उनसे किस शिष्य का भला किस प्रकार आसानी से हो सकता है।

आराध्यदेवजी ने आगे बतलाया कि एक बार गुरुदेव बनाने के बाद यह सोचने की आवश्यकता ही नहीं रहती कि गुरुदेव हमारा भला कब करेंगे। यह भी नहीं सोचना चाहिए कि हमारी कम प्रगति कर रहे हैं तथा हमारे अमुक गुरु-भाई की अधिक प्रगति कर रहे हैं या हम पर कम कृपा करते हैं और हमारे अमुक गुरु-भाई पर अधिक कृपा करते हैं।

ऐसा भी नहीं करना चाहिए कि आज गुरु बना लिया, मन को ऐसा लगा कि कोई खास प्रगति नहीं हो रही है तो चार-पाँच महीने बाद दूसरा गुरु बना लिया। दूसरा गुरु बनाने के साल दो साल बाद मन को ऐसा आभास हुआ कि इनसे भी कोई विशेष प्रगति नहीं हो रही है तो उसके बाद तीसरा गुरु बना लिया। यदि कोई आध्यात्मिक साधक ऐसा करता है तो यह ठीक नहीं। कहावत है कि—

एकै साधै सब सधै,
सब साधे सब जाय।
जो तू सींचे मूल को,
फूले, फले अघाय॥

अतः भला चाहने वाले और अपने परम कल्याण की कामना वाले आध्यात्मिक-पथ के पथिक को खूब अच्छी प्रकार से जान करके अपना गुरु बनाना चाहिए। एक बार यदि किसी को अपना गुरु बना लिया तो फिर उनके पूर्ण नियन्त्रण में रहकर अपनी साधना करनी चाहिये। इतना उपदेशित करने के बाद अपनी मधुर मुस्कान से मुस्कराते हुए हमारे आपके और प्राणी मात्र के भाग्य-

विधाता श्री सद्गुरुदेवजी महाराज ने नवागन्तुक से कहा कि आगे सोच लो लल्ला! नवागन्तुक ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि प्रभो! हमने खूब अच्छी प्रकार से सोच-समझ लिया है, हम आपके शिष्य बनना चाहते हैं। श्रीमुख ने आदेश दिया कि ठीक है लल्ला! यदि तुमने अच्छी तरह से समझ लिया है तो हम तुम्हारे गुरुदेव बनने लायक हैं अतः तुम दोनों हमारे नियन्त्रण में रहकर अपनी साधना करना आरम्भ कर दो। कल प्रातःकाल तुम दोनों दीक्षा ले लेना और जैसा हम आदेश करें, वैसी साधना आरम्भ करना। इस प्रकार नवागन्तुक को निमित्त बनाकर श्री प्रभुजी ने वहाँ उपस्थित सभी साधकों को यह स्पष्ट चेतावनी दी।

यद्यपि यह लेख का कोई विषय नहीं है तथापि प्रियतम की प्रत्येक बात उनके चाहने वालों को प्रिय लगती है। अतः इसे लिपिबद्ध करने का प्रयास किया गया है। अपने विचार के अनुसार एक अन्तर यहाँ स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ और वह है "मानने और जानने, दो शब्दों का अन्तर।" किसी की बात को बिना किसी संशय या हिचक के ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना मानना कहलाता है।

उदाहरणार्थ—यदि किसी ने कह दिया कि हवाई जहाज एक ऐसा यन्त्र है, जो बिना किसी सहारे के आकाश में उड़ता है। जो उसकी इस बात को बिना किसी विरोध के स्वीकार कर लेना 'मानना' है। प्रमाण के साथ किसी वस्तु या तथ्य को मानना ही 'जानना' कहलाता है। जैसे श्रोता ने सुना कि हवाई जहाज एक ऐसा यन्त्र है, जो बिना किसी सहारे के आकाश में उड़ता है। अभी वह सोच ही रहा है कि अच्छा, ऐसा भी होता है, और इतने में एक जहाज आकाश में उड़ता हुआ उसके सामने से गुजरे एवं वक्ता उसे दिखला दे कि देखो भाई! यही हवाई जहाज है, जिसकी मैं बात कर रहा था। अब तुम देख रहे हो कि यह आकाश में बिना किसी सहारे के उड़ता चला जा रहा है।

श्रोता का जहाज के सम्बन्ध में इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना 'मानना' कहलाता है।

अन्त में आराध्यदेवजी के युगल-चरणों में कोटिशः साष्टांग प्रणाम के साथ प्रार्थना है कि करुण-कृपा सदैव रखते हुए आज्ञा पालन करने की शक्ति प्रदान करने की कृपा की जाय।

विद्यामद, धनमद तथा तीसरा देश अथवा कुल का मद होता है। अहङ्कारियों के लिये यह उन्मादक होते हैं, किन्तु सज्जनों के लिये यही दमन का साधन बनते हैं। संसार में अनेक मद हैं किन्तु ऐश्वर्यमद उन सबसे पापिष्ठ=अतिनिकृष्ट है। ऐश्वर्यमद से मत्त मनुष्य गिरे बिना नहीं रहता है अथवा नहीं सम्भलता है।

—महात्मा विदुर

सद्गुरु की कृपा-दृष्टि

हे सद्गुरु की कृपा-दृष्टि, तू शुद्ध, सुप्रसिद्ध उदार और अखण्ड आनन्द की वर्षा करने वाली है। मैं तुझे नमस्कार करता हूँ। विश्व-रूपी सर्प के दर्शन करने पर अवयव अकड़ने न लगें और विष का वेग उतर जाय, यह प्रताप तेरा ही है। अब यदि प्रसाद रस की लहरें उठने लगें और उसकी याद आने लगे तो फिर सन्ताप किसे सन्तप्त कर सकता है और शोक किसे जला सकता है! हे गुरु की कृपा-दृष्टि तू अत्यन्त प्रेमपूर्ण होने के कारण अपने सेवकों की ब्रह्मानन्द की कामना पूरी करती है और उनके आत्म-साक्षात्कार के हौसले भी पूरे करती है। मूलाधार चक्र रूपी शक्ति की गोद में उन शिष्य बालकों को लेकर तू प्रेमपूर्वक उनका संगोपन करती है और हृदयाकाश रूपी पालने में उन्हें रखकर आत्म-ज्ञान के झोंके देती है। तू जीवात्म वाले भावों को उन पर न्यौछावर करने मन और प्राण वायु उन्हें खेलने के लिए देती है और उनके अंगों पर आत्मानन्द के आभूषण चढ़ाती है। सत्रहवीं पूर्णामृत कला का दूध तू उन्हें पिलाती है, उनके मनोविनोद के लिए तू अनाहत नामक नाद-घोष के गीत गाती है और उन्हें समाधि-सुख से शान्त करके सुलाती है। इसलिए समस्त साधक जनों का संगोपन करने वाली माता तू ही है। तेरे ही चरणों से कवित्व-कला उत्पन्न होती है, इसलिए मैं तेरी शीतल छाया कभी न छोड़ूंगा। हे सद्गुरु की कृपा-दृष्टि, तेरा दयामृत जिसे प्राप्त होता है, वह समस्त विद्याओं की निष्पत्ति करने के कामों में ब्रह्मा ही होता है। इसलिए हे माता-गुरु कृपा-दृष्टि, तू वैभवशाली है और अपने सेवकों की कामना पूर्ण करने वाली कल्पलता है। तो भी तू मुझे ग्रन्थ का निरूपण करने की आज्ञा दे। हे माता, तू मेरे द्वारा इस निरूपण में नौ रसों का सागर भरवा दे, उत्तम रत्नों का आगर तैयार होने दे और भावार्थ के सच्चे अर्थ का पर्वत उठने दे। इस देशी भाषा के प्रदेश में वाङ्मय सौन्दर्य की खान खुलने दे और चारों ओर विवेक रूपी लताएं उगने दे। ऐसे महासिद्धान्त रूपी वृक्षों का घना और भरा हुआ बगीचा रचने दे जिसमें एक-वाक्य रूपी फलों की समृद्धि

हो। नास्तिकों की गुफाओं, वितंडावादियों के टेढ़े-मेढ़े रास्तों और तर्क करने वालों के हिंसक श्वापदों का पूरी तरह से नाश होने दे। तू मुझे ऐसी सामर्थ्य प्रदान कर जिसमें मैं श्रीकृष्ण के गुणों का ठीक वर्णन कर सकूं और श्रोताओं को भी श्रवण के आनन्द का साम्राज्य प्राप्त होने दे। इस देशी भाषा के नगर में ब्रह्मविद्या की भर-मार करके लोगों को इस चिदानन्द का मनमाना लेन-देन करने दे। हे सद्गुरु की कृपा-दृष्टि, यदि तू मुझ पर अपने प्रेम-पूर्ण आँचल की छाया करेगी और मेरे भाग्य में वह छाया प्राप्त करना बदा होगा, तो हे माता, यह सब कुछ मैं तत्काल ही निर्माण कर सकूंगा। दास की यह प्रार्थना सुनकर गुरु ने उसकी ओर प्रसन्न दृष्टि से देखा और कहा—"अब गीता के अर्थ का निरूपण आरम्भ करो, प्रस्तावना का अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं।" इस पर शिष्य को स्वभावतः बहुत अधिक आनन्द हुआ और उसने कहा—"हे स्वामी, ठीक है, यह आपका महा-प्रसाद ही है।

× × ×

गुरु का स्मरण करते ही शिष्य में समस्त विद्याएं आ जाती हैं, उन श्री गुरु-चरणों को मैं मैं वन्दना करता हूं। जिनका स्मरण करते ही काव्य-शक्ति आ जाती है, सब प्रकार की रसाल वक्तृताएं जिह्वा के अग्र भाग पर आकर उपस्थित होती हैं, जिनके स्मरण से वक्तृत्व की मधुरता के आगे अमृत भी फीका पड़ जाता है, प्रत्येक अक्षर के सामने सब रस सेवकों की भांति हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं, उद्दिष्ट अर्थ खुल जाता है, रहस्य का ज्ञान हो जाता है और सम्पूर्ण आत्म-बोध हस्तगत हो जाता है, वे श्री गुरु-चरण ज्यों ही आकर अन्तःकरण में स्थिर होते हैं, त्यों ही ज्ञान का प्रकाश अपने वैभव को प्राप्त होता है।

★ आत्मा की अभिन्नता का अनुभव करने के लिए सांसारिक देहादि पदार्थों से मानी हुई एकता को मिटाना होगा और परमात्मा से जो अपनी जातीय एकता है, उसका मनन, चिन्तन करना होगा इसके लिए निरन्तर सजगता है।

—साधुवेश में एक पथिक

सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

'गुरुबोध-सार'

उपदेश-पंचक

वेद का अध्ययन नित्य किया जाय। उसमें कहा हुआ कर्म उत्तम प्रकार से अनुष्ठित किया जाय। उस कर्म से परमेश्वर की पूजा की जाय। काम्यकर्म विषयक मति (वासना) छोड़ी जाय। पाप-परम्परा धो डाली जाय। भवसुख में स्थित दोष की तरह ध्यान दिया जाय। आत्मानुभव की इच्छा का पक्का निश्चय किया जाय। अपने घर से शीघ्र बाहर निकल पड़े।

× × ×

सज्जनों की संगति की जाय। भगवद्भक्ति दृढ़ की जाय। शान्ति आदि से दृढ़तर परिचय किया जाय। कर्मों का (अग्निहोत्रादि श्रौत कर्मों का) शीघ्र त्याग किया जाय। सज्जन शास्त्र ज्ञाता के नजदीक जाया जाय। उससे ब्रह्म एकाक्षर ॐ की याचना की जाय। उपनिषद्-वाक्य अच्छी तरह सुने जायें।

× × ×

उपनिषद्-वाक्यों के अर्थ की विचारणा की जाय। उपनिषद् के सिद्धान्त पक्ष का आश्रय किया जाय। प्रतिकूल तर्क पूर्णतः छोड़ा जाय। श्रुति-अनुकूल तर्क का मनन किया जाय। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी धारणा की जाय। दिन-प्रति-दिन गर्व का त्याग किया जाय। बुधजनों द्वारा 'मैं देह हूँ' यह अहंबुद्धि छोड़ी जाय। वाद-विवाद छोड़ा जाय।

× × ×

क्षुधारूपी व्याधि की चिकित्सा की जाय। प्रतिदिन भिक्षारूपी औषध सेवन की जाय। मिष्टान्न न मांगा जाय, विधिवशात् जो मिला उससे सन्तोष माना जाय। शीतोष्णादि (द्वन्द्व) सहन किये जायें, एक भी वृथा वाक्य बोला न जाय। उदासीनता की अभिलाषा की जाय (अर्थात् तटस्थ वृत्ति धारण की जाय)। किसी पर कृपा, किसी पर निष्ठुरता यह छोड़ा जाय। अथवा लोगों के द्वारा कृपा हो या निष्ठुरता उसकी चिन्ता न की जाय।

× × ×

एकान्त में सुख से बैठा जाय, परमात्मा में चित्त स्थिर किया जाय। आत्मा परिपूर्ण भरा है, यह अच्छी तरह से सर्वत्र देखा। यह जगत् उससे ही

भरा है ऐसा देखा जाय। आत्म ज्ञान के बल से पूर्वजन्म का कर्म खत्म किया जाय। आगे होने वाले कर्मों के साथ भी चिपका न जाय। प्रारब्ध को इहलोक में भोग लिया जाय। इसके बाद परब्रह्मात्म रूप में रहा जाय।

वे धन्य हैं

जो इन्द्रियों को शान्त करता है, वह ज्ञान है। उपनिषदों में जिसका अर्थ निश्चित किया है, वह ज्ञेय है। पृथ्वी में वे लोग धन्य हैं, जिनको परमार्थ में निश्चित इच्छा है। जो बाकी लोग हैं, वे भ्रमालय में भटकने वाले हैं।

× × ×

प्रथम विषय-प्रदेशों को जीतकर, फिर मद, मोह, राग, द्वेष आदि शत्रुओं को खत्म करके जिन्होंने योग-राज्य प्राप्त कर लिया, जो निःस्पृह हो गये हैं, विषय-भोग में जिन्हें विरक्ति हो गई है और निःसंग होकर निर्जन स्थानों में (सत्संग के लिए) घूमते रहते हैं, वे धन्य हैं।

× × ×

'मैं' और 'मेरा'—ये दो बन्धनकारक पद जिन्होंने छोड़ दिये हैं, जो मानापमान दोनों को समान समझने वाले और समदर्शी हैं, करने वाला (मैं नहीं) दूसरा ही अर्थात् परमात्मा है, यह पहचानकर जो अपने कर्म व कर्म के परिणामस्वरूप प्राप्त फलों के उस कर्ता को (परमात्मा को) अर्पण करते हैं, वे लोग धन्य हैं।

× × ×

जिन्होंने एषणात्रय (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा) को छोड़कर मोक्ष-मार्ग खोज लिया है, देह-यात्रा भिक्षा रूपी अमृत से चल रही है, ऐसा मान लिया है और उस श्रेष्ठातिश्रेष्ठ परमात्म संज्ञात्मक ज्योति का हृदय रूपी एकान्त में जो दर्शन करते हैं, वे धन्य हैं।

× × ×

शान्तः एकनिष्ठ बुद्धि वाले, मधुर स्वभाव वाले, जिनके मन में एकत्व के बारे में निश्चय हो गया है, जिनका मोह निरसन हो गया है, ऐसों के साथ जंगल में जिस वस्तु का स्वरूप आत्मपद से विदित होता है, ऐसी वस्तु की (ब्रह्म की) अच्छी तरह से सर्वदा चर्चा करते हैं, वे धन्य हैं।

प्रभु श्री चन्द्रमोहन स्तोत्र

प्रतिग्रहैयोगदोष प्रकाशक : पंडित देवीरामस्यपुत्र :
विप्रकुलगौरव चन्द्रमोहन भगवते नमो नम :
शक्तिपातकृत्वा आत्मदर्शक : सिद्ध - शिरोमणि
परिपूर्णसिद्धेश्वर : चन्द्रमोहन भगवते नमो नम :
कुण्डलनीप्रबोध्यचक्रभेदक : योगशक्तिसम्पन्न :
आज्ञाचक्रनिवासी चन्द्रमोहन भगवते नमो नम :
अष्टसिद्धिनवनिधिसेवित : त्रिलोकवन्दित
सामर्थ्यकालीनाथ : चन्द्रमोहन भगवते नमो नम :
भवभयविनाशक उत्तमगतिप्रदाता सर्वशक्तिमान
परमकल्याणधन : चन्द्रमोहन भगवते नमो नम :
सद्गुरुरूपेण भूतलेप्रकटयित्वा शरणागतउद्धारक :
संस्कारी आत्मानांकल्याणकारक : चन्द्रमोहनभगवतेनमोनम :
महाप्रभुरामलालस्यपूर्णयोग्यपरमशिष्य : भीषणतपस्वी
वेदशास्त्रपारंगत : पंडित : चन्द्रमोहन भगवते नमो नम :
प्रतिरोमेणप्रकाशवृष्टिकारक : लोकान्तर प्रकाशक :
अनंतते गोरातिपारब्रह्मस्वरूप चंद्रमोहनभगवते नमो नम :
ब्रह्माविष्णुमहेशवंदित : सतस्वरूप: आनंदकंदविश्वपति
करुणासागर: जगतगुरु चन्द्रमोहन भगवते नमो नम :
सिद्धपीठ श्री सिद्धगुफा : संवाईस्थलस्य सिद्धपीठाधीश्वर :
योगाभ्यासरतकयोगेश्वर : चन्द्रमोहन भगवते नमो नम :
निजभक्तवर्गेषुअनवरतप्रकाशवृष्टिकारक : सच्चिदानन्द
भक्तवत्सल:योगसूर्य : चन्द्रमोहन भगवते नमो नम :
श्रीचरणोपुस्तुतिकर्त्ता अवनीश अनुकम्पाकारक : दीन-
हितकारीतत्वविजयीयोगिराज चन्द्रमोहनभगवते नमो नम :

इति श्री परमयोगेश्वर चन्द्रमोहन प्रभु स्तोत्र

प्रस्तुतकर्त्ता : अवनीश भटनागर
योग प्रचार सतसंग सभा, सहारनपुर द्वारा प्रेषित

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008, JULY, 1995

प्रेषक कार्यालय :—

सि द्ध यो ग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा

PRNTED MATTER
Book-Post

श्री ....
....
....
....

हे प्रभु सुधारो मेरे मन को

हे प्रभो ! मन को आपने मेरा सेवक बनाकर दिया किन्तु यह तो मुझसे विमुख हो गया है, अथवा अज्ञान और प्रमाद के कारण मैंने इसे कुपथगामी कर दिया है। भगवन् ! सोने की दशा का क्या कहूं, यह तो जागते समय भी अनेक बार जाने कहां चला जाता है। दयानिधान मेरे भगवन् ! आपने इसे मेरी इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनाकर मुझे दिया, किन्तु यह मेरे वश में नहीं रहा। यह जागृत अवस्था में अंड-बंड विचारों में लीन हो जाता है, फिर स्वप्न में भी वैसे दृश्य दिखाता है। दातः ! यह तेरा दान है, तू ही इसे सुधार। तू ही इसे भलाई में लगा। प्रभो ! तेरे भक्त इसके द्वारा विचित्र कर्म करते हैं, लोकहित साधते हैं। मेरे मन को भी ऐसा करदे।

—स्वामी वेदनानन्द तीर्थ

प्रकाशक एवं मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'विमल' द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसाई कलाँ, ताजगंज, आगरा से मुद्रित एवं श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (आगरा) से प्रकाशित। फोन : 360626